भारतीय समाज

तरुण भारती

भारतीय समाज

श्यामाचरण दुबे

अनुवाद
वंदना मिश्र

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-3516-2

पहला संस्करण : 2001 *(शक 1922)*

INDIAN SOCIETY *(Hindi)*

रु. 35.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित

प्राक्कथन

यह पुस्तक उन किशोर तथा युवा पाठकों को संबोधित है जो भारतीय समाज की ऐतिहासिक जड़ों, इसके विचारधारात्मक आधारों तथा सामाजिक संगठन के विषय में कुछ जानना चाहते हैं। अंतिम अध्याय मे परिवर्तन की प्रमुख प्रवृत्तियों पर भी चर्चा की गयी है। आंकड़ों और व्याख्याओं के लिए इतिहास, भारतविद्या, मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र जैसे विविध स्रोतों का सहारा लिया गया है। इन विषयों से प्राप्त अंतर्दृष्टियां, मेरे विचार से, भारत के सामाजिक यथार्थ पर प्रकाश डालने के लिए आवश्यक हैं।

भारत का एक सुदीर्घ इतिहास है और उसकी सामाजिक संरचना बहुत जटिल है। इसके बहुरंगी संरूपों का संक्षिप्त सारांश प्रस्तुत करना आसान नहीं। इतनी छोटी पुस्तक में स्थानीय तथा क्षेत्रीय रीति-रिवाजों तथा सामाजिक रूपों के सूक्ष्म विवरणों पर चर्चा कर पाना तो स्पष्टतः असंभव है। फिर भी इसमें कुछ उन विविधताओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है जो भारतीय समाज की विशेषताएं हैं। एकीकरण के पक्षो की भी पड़ताल की गयी है। आशा है कि पुस्तक अपने पाठकों को न भ्रमित करेगी और न उन्हें चकरायेगी।

दो शब्द भाषा के विषय में। दशकों के दौरान समाजशास्त्र ने एक ऐसी दुरूह शब्दावली विकसित की है जो विषय का विशेष ज्ञान न रखने वाले मेधावी पाठकों को भी परेशान करती है। इस पुस्तक में एक सरल-सहज शैली अपनाने का प्रयास किया गया है। आवश्यकतानुसार कुछ तकनीकी शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है किंतु ऐसे शब्दों को, जहां वे पहली बार आये हैं, वहां अथवा शब्दावली में स्पष्ट कर दिया गया है।

कुछ हद तक सभी इतिहास तथा समाजशास्त्र पुनर्रचनाएं ही हैं और इनमें सर्वाधिक वस्तुनिष्ठ लेखकों के भी विचारधारात्मक आग्रह प्रतिबिंबित होते हैं। संभव है इस पुस्तक में भी आत्मनिष्ठ झुकाव आ गये हों किंतु किसी विचारधारा

विशेष के पक्ष में मैंने तथ्यों को तोड़ा-मरोड़ा नहीं है। अंत में एक संक्षिप्त पुस्तक सूची दी गयी है ताकि पाठक ऐसे दृष्टिकोणों से भी परिचित हो सकें जो संभवतः मेरे दृष्टिकोण से भिन्न हों।

ज्ञान के प्रमुख प्रकार्यों में से एक है मानसिक क्षितिज का विस्तार करना और यह पुस्तक इसी उद्देश्य से लिखी गयी है। आशा है कि इससे भारत के सामाजिक व्यक्तित्व के विषय में कुछ आलोचनात्मक जागरूकता उत्पन्न होगी तथा हमारे देश के अतीत और वर्तमान के बारे में चिंतन की प्रेरणा मिलेगी। इतिहास तथा परंपराओं को कभी-कभी तब बेहतर ढंग से समझा जाता है जब उन पर से रहस्य का आवरण हटा दिया जाता है।

इस पुस्तक पर सावधानीपूर्ण तथा रचनात्मक संपादकीय परामर्श के लिए मैं श्री रचि दयाल के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूं।

दिल्ली —श्यामाचरण दुबे
जुलाई 1990

विषय सूची

1

भारतीय समाज का निर्माण

भारतीय समाज बहुत पुराना और अत्यधिक जटिल है। प्रचलित अनुमान के अनुसार पांच हजार वर्ष पूर्व की पहली ज्ञात सभ्यता के समय से आज तक लगभग पांच हजार वर्षो की अवधि इस समाज में समाहित है। इस लंबी अवधि में विभिन्न प्रजातीय लक्षणों वाले और विविध भाषा-परिवारों के आप्रवासियों की कई लहरें यहां आकर इसकी आबादी में घुलमिल गयीं और इस समाज की विविधता, समृद्धि और जीवंतता में अपना-अपना योगदान दिया।

समकालीन भारत में सामाजिक क्रमविकास के कई अलग-अलग स्तर साथ-साथ मौजूद हैं जैसे आदिकालीन शिकारी और भोजन संग्राहक, झूम खेती करने वाले किसान जो हल-बैल से जुताई करने के बजाय आज भी कुदाली या आद्य हल का इस्तेमाल करते हैं, विभिन्न प्रकार के घुमतू (बकरी-भेड़ और मवेशी पालक, एक जगह से दूसरी जगह घूम-घूमकर व्यापार करने वाले और कारीगर तथा शिल्पी), एक ही जगह बसे किसान जो खेती के लिए हल का इस्तेमाल करते हैं, दस्तकार और प्राचीन वंश परंपरा वाले भूस्वामी तथा अभिजात वर्ग। दुनिया के अधिकतर प्रमुख धर्म—हिंदू, इस्लाम, ईसाई और बौद्ध—यहां हैं और इनके साथ आस्था और कर्मकांड की दृष्टि से इतने अलग-अलग ढग के संप्रदाय और पंथ भी यहां हैं जो विस्मय में डाल देते हैं। इन सबके साथ आधुनिक अकादमिक, अफसरशाही, औद्योगिक और वैज्ञानिक अभिजन को भी जोड़ देने से हम देखते हैं कि यहां अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों साथ-साथ रह रहे हैं। अपने क्रमविकास की प्रक्रिया में भारतीय समाज ने एक मिली-जुली संस्कृति विकसित की है जिसकी विशेषता है बहुलवाद के कुछ स्थायी संरूप (पैटर्न)।

भारत के प्राचीनतम निवासियों की पहचान कर पाना कठिन है। आश्चर्य

नहीं कि उनके बारे में कोई लिखित दस्तावेज नहीं है क्योंकि उस समय लिपि का आविष्कार ही नहीं हुआ था। लोगों की मौखिक परंपरा से भी कोई खास मदद नहीं मिलती क्योंकि बाद मे उसमें होने वाले जोड़-घटाव इस मौखिक परंपरा को इतिहास के मार्गदर्शक के रूप में भरोसेमंद नहीं रहने देते। प्रागैतिहासिक साक्ष्य अधिक भरोसेमंद हैं हालांकि इनसे पूरी कहानी नहीं जानी जा सकती। जीवन के तमाम छोटे-छोटे सूक्ष्म विवरण समय के थपेड़ों में खो जाते हैं। अब हम जानते हैं कि भारत में प्रारंभिक मानव-गतिविधियां दूसरे अतर-हिमानी युग में 400,000 और 200,000 ई.पू. के बीच शुरू हो चुकी थीं। उस समय पत्थरों से बने उपकरण इस्तेमाल किये जाते थे। देश के विभिन्न भागों में मिले गुफा चित्रों में उस प्रारंभिक काल के जीवन और पर्यावरण, कलात्मक अनुभूतियों और रचनात्मकता तथा संभवतः उस आदिकाल के आध्यात्मिक विचारों को भी अभिव्यक्ति मिली हैं विशेषकर प्रायद्वीपीय भारत में मिलने वाले—महापाषाण (मेगालिथ्स) विशाल पत्थर जो अधिकतर मृतकों के स्मारक के रूप में इस्तेमाल किये गये थे—लोहे, कांसे यहां तक कि सोने के भी प्रयोग को दर्शाते हैं। नया पुरातत्व शास्त्र इन सब बातों पर तो अतिरिक्त जानकारी देने का काम शुरू कर रहा है कि लोग कैसे रहते थे, कौन-कौन सी फसलें उगाते थे और क्या खाते-पीते थे, लेकिन वह यह नहीं बताता कि यहां सबसे पहले कौन आया और फिर अन्य लोगों ने किस क्रम में इस भूमि पर प्रवेश किया।

भारत की जनसंख्या के नृजातीय (एथनिक) तत्वों अर्थात प्रजातीय समूहों के संबंध में भौतिक मानवशास्त्र द्वारा दी गयी जानकारी के आधार पर हम अनुमान लगा सकते हैं कि भारत के स्वस्थानिक आदिवासी—मूल या प्राचीनतम निवासी—कौन थे। इस विषय में बी.एस. गुहा द्वारा किया गया वर्गीकरण सर्वाधिक आधिकारिक और सबसे व्यापक रूप में मान्यता प्राप्त है। बी.एस. गुहा ने भारत की जनसंख्या में छह मुख्य प्रजातीय तत्वों की पहचान की है : नेग्रीटो, प्रोटो-आस्ट्रलायड, मंगोलायड, भूमध्यसागरीय (मेडीटरेनियन), पश्चिमी लघुशिरस्क (वेस्टर्न ब्रैसिसिफल) तथा नोर्डिक। इनमें से प्रथम तीन इस उपमहाद्वीप के पुराने निवासी हैं। वे छोटे-छोटे क्षेत्रों के भीतर ही सीमित हैं। दक्षिण में काडर, इरुला तथा पानियान और अंडमान द्वीपसमूह में ओंग और अंडमानियों में निश्चित नेग्रीटो विशेषताएं स्पष्ट हैं। इस समूह की कुछ विशेषताएं अंगामी नगाओं तथा राजमहल पहाड़ियों के बागड़ियों में भी पायी जाती हैं। पश्चिमी तट पर कुछ समूह ऐसे हैं जिनमें नेग्रीटो लक्षण बहुत स्पष्ट हैं लेकिन वे संभवतः बाद में यहां आने

वाले उन लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो अरब व्यापारियों के साथ भारत आये थे। हम भारत के सांस्कृतिक चित्रपटल पर नेग्रीटो तत्व के योगदान के बारे में अधिक नहीं जानते। संख्या की दृष्टि से प्रोटो-आस्ट्रलायड समूह अधिक महत्वपूर्ण हैं; मध्य भारत की अधिकतर जनजातियां इसी प्रजातीय समूह की हैं। ये वही लोग थे जिन्हें भारतीय आर्यो ने अनस, दास, दास्यु और निषाद (ये सभी शब्द अनादर सूचक हैं) कहा। मंगोलायड समूह दो शाखाओं में उपविभाजित है : पुरा-मंगोलायड और तिब्बती-मंगोलायड। हिमालय क्षेत्र के आदिवासी समूह और पूर्वोत्तर के लोग इसी समूह के हैं। कुछ मंगोल लक्षण पूर्वी राज्यों—असम, पश्चिमी बंगाल, मणिपुर और त्रिपुरा—की गैरजनजातीय आबादी में भी दिखायी पड़ते हैं। इन नृजातीय समूहों को यहां का स्वस्थानिक आदिवासी (मूल निवासी) माना जा सकता है। नेग्रीटो के बाद संभवतः प्रोटो-आस्ट्रलायड यहां आये थे।

बाद में भारत आने वालों में थे भूमध्यसागरीय (मेडीटरेनियन), पश्चिमी लघुशिरस्क (आल्पीनायड, डाइनेरिक तथा आर्मीनायड समूहों में उपविभाजित) तथा नोर्डिक (भारतीय आर्य)। मेडीटरेनियन द्रविड़ भाषाओं और संस्कृतियों से जुड़े हैं। आल्पीनायड और डाइनेरिक विशेषताएं उत्तरी और पश्चिमी भारत के कुछ समूहों में दिखायी देती हैं; पारसी समुदाय आर्मीनायड वर्ग के अतर्गत आता है। भारत आने वाले प्रमुख प्रजातीय तत्वों में अंतिम थे नोर्डिक जिन्होंने इसकी संस्कृति और समाज पर गहरा प्रभाव डाला लेकिन उनके आने से पहले भारत में धीरे-धीरे एक अनूठी सभ्यता विकसित हो चुकी थी। यह सिंधु घाटी की सभ्यता के नाम से जानी जाती है।

आर्यों के आगमन से पूर्व विभिन्न प्रजातीय तत्वों के भारत में आगमन और सिंधु घाटी की सभ्यता का यह लेखा जोखा मानवशास्त्र, पुरातत्व और इतिहास में आमतौर पर मान्य सिद्धांतों पर आधारित है। परंतु अब इन मान्यताओं पर विवाद है। विद्वानों का एक मुखर वर्ग मानता है कि आर्य आक्रमण की धारणा पर पुनर्विचार किए जाने की जरूरत है। वह मानता है कि सिंधु घाटी सभ्यता आर्यों और भारत के आर्यपूर्व निवासियों की संयुक्त कृति है। लोथल पर अपने काम के लिए प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता एस.आर.राव ने अपने भाषणों और लेखन में बार-बार कहा है कि सिंधु घाटी सभ्यता के लोग बहुप्रजातीय थे। गहन और व्यापक उत्खनन में मिले कंकाल अवशेषों से ऐसा ही लगता है। वह यह भी मानते हैं कि यह सभ्यता स्वयं विभिन्न प्रजातीय धाराओं के योगदान के समन्वित रूप का प्रतिनिधित्व करती है।

सिंधु घाटी सभ्यता की आगे दी गयी रूपरेखा इसके बारे में अधिक पारंपरिक और स्वीकृत दृष्टिकोण पर आधारित है। इससे असहमत दृष्टिकोण अभी विश्वसनीय तर्कों द्वारा स्थापित किया जाना है। लेकिन इसे बहुत हलके ढंग से लेकर खारिज भी नही किया जा सकता। संभव है कि इसके कारण भारत की प्रथम सभ्यता संबंधी अध्याय फिर से लिखे जायें।

सिंधु घाटी सभ्यता मुख्यतः मोहन जोदाड़ो और हड़प्पा शहरों (जो अब पाकिस्तान के सिंध प्रांत में है) से जुड़ी है। सबसे पहले यहीं इस सभ्यता का पता चला था। परवर्ती उत्खननों से संकेत मिलता है कि इस सभ्यता का विस्तार काफी दूर तक था। इस सभ्यता के अन्य महत्वपूर्ण केंद्र हैं : कोट दीजी (सिंध, पाकिस्तान, काली बंगन (राजस्थान, भारत), रोपड़, (पंजाब, भारत) तथा लोथल (गुजरात, भारत)। बंदरगाह होने के कारण लोथल का महत्व बढ़ गया है।

माना जाता है कि यह सभ्यता 2500 ई.पू. के आसपास शुरू हुई, 2300 ई. पू. तक फलती-फूलती रही और लगभग 1700 ई.पू. में इसका पतन शुरू हुआ। इस सभ्यता के कंकाल अवशेषों में प्रोटो-आस्ट्रलायड, भूमध्यसागरीय, अल्पाइन और मंगोलायड प्रजातीय तत्वों की उपस्थिति के साक्ष्य मिलते हैं। इन प्रजातियों ने, निस्संदेह, इस सभ्यता के विकास में अपना योगदान दिया था। यह एक नगरीय सभ्यता थी जिसमें नियोजन की विलक्षण योग्यता और क्षमता थी। नगर बहुत सुनियोजित ढंग से बनाए गये थे। आवास विशाल थे और उनके निर्माण में बहुत अच्छे किस्म की निर्माण सामग्री का इस्तेमाल किया गया था। ककुद् वृषभ, भैंस, ऊंट और हाथी जैसे कई पशुओं को पालतू बना लिये जाने के साक्ष्य उपलब्ध हैं। पृष्ठप्रदेश में कपास के अतिरिक्त बड़ी मात्रा में अनाज उगाया जाता था जिसे शहरों में बने विशाल अन्नभंडारों में सुरक्षित रखा जाता था। लोग उपमहाद्वीप के भीतर और फारस की खाडी क्षेत्र तथा मेसोपोटामिया के साथ लाभदायक व्यावसायिक गतिविधियों में व्यस्त थे। उनमें से कुछ निश्चय ही समृद्ध रहे होंगे क्योंकि वे सोने, चांदी, तांबे, कई मिश्रित धातुओं और रत्नों से निर्मित गहने पहनते थे। उस समय कलात्मक गतिविधियां भी काफी थीं और अनेक प्रकार के शिल्प फल-फूल रहे थे। हमारे दृष्टिकोण से सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि भारतीय सभ्यता की नींव इसी चरण में रखी गयी और उस काल के कुछ तत्व आज तक कायम हैं। शिव और लिंगम तथा मातृदेवी की पूजा इस काल में भी खोजी जा सकती है। दुर्भाग्यवश, सिंधु घाटी की सभ्यता की लिपि और उसकी अनेक मुद्राओं का अर्थ अब तक नहीं निकाला गया है जबकि उनसे हमे तत्कालीन अर्थव्यवस्था, धर्म और समाज

के बारे में अधिक जानकारी मिल सकती है।

इंडो-आर्य यहां बाद में आये और इस धरती के प्राचीन निवासियों के साथ उनकी मुठभेड़ लम्बी चली। वे अपने साथ कोई सभ्यता नहीं लाये थे; वे मूलतः पशुचारी लोग थे जिन्हें कविता, दार्शनिक कल्पनाओं और विस्तृत कर्मकांडों में गहरी रुचि थी। वे इस अर्थ में 'प्रजातिवादी' थे कि वे स्वयं को श्रेष्ठ मानते तथा यहां पहले से रह रहे लोगों को हेय दृष्टि से देखते, और उनका तिरस्कार करते थे। यहां के मूल निवासियों के लिए उन्होंने अनेक अपमानजनक शब्द गढ़े। अपने समूह के भीतर ही विवाह करना (अंतर्विवाह) उनके लिए अनिवार्य हो गया था। आनुष्ठानिक पवित्रता और अपवित्रता के बारे में उनकी कुछ बुनियादी धारणाएं थीं और दूसरों के साथ उनके भौतिक संपर्क और सहभोजी संबंध इन्हीं धारणाओं से नियंत्रित होते थे। इसके कारण ही वर्णो (रंग) और जातियों का जन्म हुआ। आर्यपूर्व प्रजातीय तत्वों के बीच अंतरसंबंध के कारण जाति अपने प्रारंभिक रूप में पहले से विद्यमान रही हो सकती है। विभिन्न जनजातीय समूहों और प्राचीन नृजातीय समूहों के भीतर सहभोजी और यौन संबंध पारंपरिक प्रतिमानों और निषेधों से परिचालित थे। भारतीय आर्यों का आगमन उनमें परिष्कार और जटिलताएं लाया।

भारतीय आर्यो और यहां के प्राचीन निवासियों के बीच अंतरसंबंधों के क्षेत्र विस्तार के साथ ही भारतीय समाज का सैद्धांतिक और सामाजिक ढांचा भी रूप ग्रहण करने लगा। इंडो-आर्य तीन समूहों में विभाजित थे—राजन्य (योद्धा तथा अभिजात वर्ग), ब्राह्मण (पुरोहित), तथा वैश्य (कृषक)। राजन्य आगे चलकर क्षत्रिय कहलाये। ब्राह्मणों ने राजा को देवत्व प्रदान करने का अधिकार जताकर अपनी प्रस्थिति (स्टेटस) ऊंची कर ली। वैश्य धीरे-धीरे व्यापार और वाणिज्य के काम में लग गये। ये तीनों द्विज थे—दो बार जन्म लेने वाले। पहला, भौतिक जन्म होता है जब वे मां की कोख से इस संसार में आये और दूसरा जब वर्णक्रम में दीक्षा लेकर वे वर्ण विशेष के सदस्य बने। शूद्र चतुर्थ वर्ण थे। वे इंडो-आर्य समूह से बाहर थे और संभवतः इंडो-आर्य और दास (यहां के आर्मपूर्व निवासी) के संबंधों से उत्पन्न संतान थे। वे कृषक बने लेकिन उन्हें द्विज का दर्जा नहीं दिया गया। ऊर्ध्वाधर चातुर्वर्ण संरचना के बाहर एक पांचवां समूह था—अवर्ण अथवा पंचम—जिसकी नृजातीय स्थिति इतनी नीची थी और उसके व्यवसाय इतने हीन और अपवित्रकारी थे कि द्विज और शूद्र के बीच किसी भी तरह का शारीरिक संपर्क निषिद्ध था। अपनी उत्पत्ति और अपने व्यवसायों की प्रकृति पर आधारित

जातियां ऊर्ध्वाधर श्रेणीबद्ध स्तरों में से किसी एक में रख दी जाती थीं। प्रत्येक वर्ण में जातियों की अपनी सोपानबद्धता थी। जातियों का आविष्कार करने के बजाय दस्तकारों और शिल्पियों तथा अन्य संगठित व्यावसायिक समूहों के पहले से मौजूद संघों को उपयुक्त स्तर पर स्थान दे दिया गया। समय-समय पर कुछ नयी जातियां इस व्यवस्था में जोड़ी जाती रहीं।

उपमहाद्वीप की परंपराओं के आर्यीकरण की यह प्रक्रिया न सहज थी, न ही संपूर्ण। इसके प्रारंभिक चरण में अनेक सांस्कृतिक संघर्ष तथा युद्ध हुए। ऋग्वेद में दस राजाओं के युद्ध का वर्णन है जिसमें इंडो-आर्य राजा सुदास ने सिंधु-गंगा मैदान में दस परस्पर सहयोगी राजाओं से उनकी प्रारंभिक बस्तियों में युद्ध किया। यह युद्ध तब हुआ जब कुछ इंडो-आर्य समूह पंचनद (पंजाब) में अपनी बस्तियों से निकलकर पूर्व दिशा में आगे बढ़े थे। इससे पहले भी सुरक्षित क्षेत्रों—पुरों और दुर्गों—में रहने वाले लोगों से उनका संघर्ष हुआ था और उन्हें अपनी ओर से दैवी हस्तक्षेप का आह्वान करना पड़ा था। समायोजन और समझौते भी हो रहे थे। उदाहरण के लिए दस राजाओं का युद्ध इंडो-आर्य बनाम अन्य का प्रकरण नहीं था। यक्षराज भेडे ने सुदास की ओर से युद्ध किया था। इंडो-आर्य धीरे-धीरे पशुचारण से कृषीय अर्थव्यवस्था की ओर बढ़ रहे थे। इससे यहां के प्राचीन निवासियों के साथ अधिक सामंजस्य कायम करना उनके लिए जरूरी हो गया था। यों भी उनके बीच एक प्रकार का एकीकरण पहले से ही चल रहा था। इंडो आर्यों के पूर्व में और आगे बढ़ने और मालवा की दिशा में विंध्य पर्वतमाला पार करने के साथ यह प्रवृत्ति और बलवती हुई। इसके कारण हुए संघर्ष के परिणामस्वरूप व्रात्य परंपरा का जन्म हुआ जिसमें अनार्यों ने अपनी जातीय और क्षेत्रीय पहचान बनाए रखते हुए इंडो-आर्य कर्मकांडो तथा सामाजिक संगठन के उनके दर्शन के कुछ तत्व अपना लिए। बहुलवाद अब सुदृढ़ हो रहा था तथा एक सांस्कृतिक विविधता आकार ले रही थी।

विलयन की इस प्रक्रिया को तीन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। प्रथम, कुछ जनजातीय समूहों ने इंडो-आर्य समूह में विलीन होने से इन्कार कर दिया और उन्होंने पीछे हटकर दुर्गम वनों और पहाड़ियों में शरण लेना बेहतर समझा। दूसरों के साथ आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में संपर्क के लिए लचीले ढंग से परिभाषित नियमों का पालन करते हुए उनमें से अनेक अब भी अपनी अलग पहचान बनाए हुए हैं। यही कुछ उन जातियों और जाति समूहों के साथ भी हुआ जिनमें मजबूत संघों की परंपरा थी। आंध्रप्रदेश में 'पंच ब्रह्म'—पांच दस्तकार समूहों का समुदाय—

एक विशिष्ट और अंतर्विवाही समूह है। पंच ब्रह्म किसी ब्राह्मण पुरोहित की सेवाएं नहीं लेते तथा अपने अलग कर्मकाड करते हैं। दूसरी कठिनाई यह थी कि कुछ शक्तिशाली नृजातीय समूहों ने अपने विलयन के मामले में विशेष प्रकार की समस्याएं खड़ी कीं। आंध्रप्रदेश में रेड्डी, केरल में नायर, तमिलनाडु में मारव, और महाराष्ट्र में मराठा आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से इतने सशक्त थे कि उन्हें शूद्र का दर्जा नहीं दिया जा सकता था। हालांकि उन्हे द्विज के रूप में औपचारिक मान्यता नही मिली किंतु उन्होंने दावा जताकर लगभग क्षत्रिय का दर्जा हासिल कर लिया। तृतीय, आप्रवासियों की परवर्ती लहरों—यूनानी, सीथियन, पार्थियन, शक, कुषाण तथा हूणों—ने दीर्घ काल तक शासन किया। वे भारतीय सामाजिक व्यवस्था में विलीन हो जाने के इच्छुक थे। कितु वे विदेशी थे और इसलिए मूलतः म्लेच्छ माने जाते थे। लेकिन उनके पास सत्ता थी और उनका दर्जा ऊंचा था। कुषाण जैसे कुछ समूहों का विलयन इस तथ्य के कारण आसान हो गया था कि उनका संबंध ऐसे क्षेत्रों से था जहां बौद्ध धर्म के उत्थान के कारण हिदू कट्टरपंथ कमजोर हो गया था। बौद्ध धर्मान्तरण करने वालों को स्वीकार करने के प्रति अत्यंत उत्साही थे। इस प्रकार ये विदेशी तत्व भारतीय समाज में समाहित हो गये। भारतीय इतिहास में जिन दो प्रसिद्ध राजाओं का उल्लेख सम्मानपूर्वक किया गया है वे हैं मिनांडर (इंडो-यूनानी मिलिंद, 155-30 ई.पू.) तथा कनिष्क (कुषाण राजा, प्रथम शताब्दी ई.) और ये दोनों प्रसिद्ध बौद्ध थे।

शकों जैसे कुछ समूह शैव बन गये क्योंकि यह संप्रदाय विशेषकर इसके भीतर के कुछ उपसंप्रदाय उत्पत्ति की शुद्धता तथा कर्मकांडीय जीवन के मानदंडों को लेकर बहुत अपेक्षाएं नहीं करते थे। प्रसिद्ध राजा रुद्रमन इसी श्रेणी में आते थे। राजपूतों को हूण मूल का माना जाता है लेकिन उनकी सत्ता के कारण उन्हें हिंदू समाज में एक ऊंचे स्तर पर अंगीकार किया गया।

भारतीय समाज के अधिकतर सामान्य विवरणों में उत्तर-पूर्व के विषय में बहुत कम बताया गया है। इन विवरणों में दक्षिण के विषय में भी कुछ छिटपुट टिप्पणियां ही मिलती हैं। परिणामतः देश का एक अपर्याप्त तथा अपूर्ण सामाजिक चित्र ही सामने आता है।

उत्तर-पूर्व के मंगोल समूहों ने या तो अपनी जनजातीय पहचान सुरक्षित रखी या वे हिंदू समाज में अंशतः अथवा पूर्णतः समाहित कर लिए गये। जनजातीय समूहों—खासी, मिज़ो, और नागा—की बड़ी संख्या अब ईसाई धर्म में धर्मान्तरित हो गयी है यद्यपि वे जनजातीय तौरतरीकों के कुछ विशिष्ट गुणधर्म अब भी बनाये

हुए हैं। भाषा विज्ञान पर अधिकारी विद्वान सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार ये (इंडो-मंगोलायड) समूह किरातों के वंशज हैं जिनका उल्लेख संस्कृत साहित्य में प्रायः मिलता है। किरात पट्टी में कुछ ऐसी सामाजिक प्रक्रियाएं देखने को मिलती हैं जो भारत के अन्य हिस्सों में सामान्यतया नहीं दिखाई पड़तीं।

अरुणाचलप्रदेश, मेघालय, मिजोरम, और नागालैंड राज्यों के गठन से पूर्व का असम (ये राज्य असम के सीमाक्षेत्र से ही बनाए गये हैं) अनेक नृजातीय समूहों तथा वैविध्यपूर्ण संस्कृतियों का घर था। यह मणिपुर, त्रिपुरा, और पश्चिम बंगाल के दार्जीलिंग जिले को छोड़कर संपूर्ण उत्तर-पूर्व तक विस्तारित था। प्राचीन काल में यह क्षेत्र प्रागज्योतिष के नाम से प्रसिद्ध था और एक व्यापक सीमाक्षेत्र में इसका विस्तार था। रामायण और महाभारत महाकाव्यों में इसका उल्लेख इसी नाम से हुआ है। कुछ पुराणों में भी इसका यही नाम मिलता है। बाद में, संभवतः मध्यकाल में यह कामरूप कहलाया तथा जादू-टोना और तंत्र का गढ़ माना जाने लगा। गुवाहाटी के निकट स्थित कामाख्या मंदिर को हिंदू धर्म के शाक्त संप्रदाय की महान पीठ माना जाता है। इस क्षेत्र का अपना वर्तमान नाम—असम—और बाद में मिला। इस नाम की उत्पत्ति के स्पष्टीकरण के लिए अनेक अनुमान लगाये गये हैं। एक अनुमान के अनुसार, असम नाम यहां के भूभाग के स्वरूप का प्रतीक है और इसका अर्थ ऊबड़-खाबड़, जो बराबर नहीं, ऊंचा-नीचा (असम) अथवा अप्रतिम (जिसके समान कोई नहीं) हो सकता है। एक अन्य मत के अनुसार इसका संबंध अहोम विजेताओं से है।

उत्तर-पश्चिम के दर्रो से भारत में आप्रवासियों के आने की बात अभिलेखों में भलीभांति दर्ज है लेकिन दुर्गम उत्तर-पूर्वी मार्गों से मंगोल समूहों के इस देश में आगमन के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं है। वे अधिकतर असम-बर्मी दर्रो और भूटान, नेपाल तथा तिब्बत के उत्तरी दर्रो से होते हुए यहां आये। उसमें में सबसे पहले आकर बसने वाले सबसे महत्वपूर्ण लोग इन्हीं मार्गों विशेषकर बर्मी दर्रों के रास्ते आये। संभव है कि पहले कुछ समूह समुद्र मार्ग से आये और बंगाल या बर्मा के भूमार्गो के जरिए असम में प्रविष्ट हुए हों। भौतिक मानवशास्त्र में हमें सुदूर अतीत में नेग्रीटो और आस्टरिक समूहों के संभावित प्रवेश के बारे में कुछ साक्ष्य मिलते हैं, लेकिन संस्कृति और समाज पर उनके प्रभाव के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। हालांकि यों तो असम में आस्ट्रलायड आबादी नहीं है लेकिन भौतिक मानवशास्त्री मानते हैं कि यह तत्व असम में मंगोलों से पहले आया और बाद में मंगोलों में घुलमिल गया। इसके बाद असम की पारंपरिक सांस्कृतिक

और राजनीतिक सीमाओं के पश्चिम के भारतीय क्षेत्रों से लोग यहां आकर बसे। इनमें हिंदू और मुसलमान दोनों शामिल थे। यहां सैनिक हमले भी अक्सर होते रहे जिनका दृढ़ता के साथ प्रतिरोध किया गया। लेकिन यहां आकर बसने वालों का प्रवाह जारी रहा और कई गैर-असमिया हिंदू और मुसलमान समूह—'इंडिड' तत्व—असम की आबादी में शामिल हो गये।

असम में मंगोली समूहों का लंबा इतिहास है और जो समाज उभर कर सामने आया उसमें उनका स्थान निश्चित करने का काम अत्यधिक जटिल है। ये दोनों बहुत सवेदनशील मुद्दे हैं और इसी कारण उनके बारे में सभी सामान्यीकरणों पर शंकाएं हो सकती हैं और विवाद खड़े हो सकते हैं। लेकिन जिस एक बात पर कोई असहमति नहीं होगी वह यह है कि यह तत्व असमिया संस्कृति और समाज की आधारशिला है। निस्संदेह, सांस्कृतिक अनुकूलन और अभिग्रहण हुआ है किंतु इन समूहों की छाप अमिट है।

बोडो या बोरो असम का एक महत्वपूर्ण समूह है। यह नाम किसी जनजाति का द्योतक नहीं है बल्कि इस नाम के तहत बड़ी संख्या वाले वे अनेक समुदाय आते हैं जो बोडो भाषा बोलते हैं। यह तिब्बती-बर्मी परिवार की भाषा है। काचरी, जो एक समय बहुत शक्तिशाली थे और जिनका अपना राज्य था, इसी समूह के हैं। राभा भी इसी समूह के हैं। इन दोनों का बड़ी तेजी से हिंदूकरण हो रहा है; वास्तव में अब उनका एक वर्ग स्वयं को हिंदू ही मानता है। विभिन्न मूलों के इन लोगों ने हिंदू धर्म में अपने विलय के बाद अपनी एक नयी पहचान बना ली है। वे अपने को राजबंशी कहते हैं। इस समूह में कोच भी शामिल हैं जो अब एक हिंदू जाति है और जिसने असम के काफी बड़े हिस्से पर शासन किया था। उन्होने भी अपना परंपरागत नाम त्याग दिया है और अब अपने को राजबंशी कहते हैं। भारो-मंगोली आबादी के एक और महत्वपूर्ण समूह में छूतिया, देवरी, मिशिंग और मोरान शामिल हैं। ये अब ऊपरी असम में रहते हैं। अतीत में छूतिया और मोरान के अपने राज्य थे। वे अब अन्य लोगो के साथ मिल गये हैं। उनके एक बड़े हिस्से ने हिंदू धर्म अपना लिया है। असम के दक्षिणी बिंदु पर रहने वाला कूकी-चिन समूह तीसरा नृजातीय समूह है। भाषा की दृष्टि से इनकी निकटता बर्मियों और काचिनों के साथ है। उन्होंने हिंदू धर्म स्वीकार नहीं किया और अपनी परंपरागत जीवनशैली को सुरक्षित रखे रहे। लेकिन अब उनमें से अधिकतर ने ईसाई धर्म अपना लिया है। चौथा और संभवतः सबसे महत्वपूर्ण समूह ताई अथवा शान मूल के लोगों का है जिन्हें अहोम कहा जाता है। माना जाता है कि वे पहले चीन में

यून्नान से ऊपरी बर्मा आये जहां से उनकी एक शाखा तेरहवीं शताब्दी में असम आयी। उन्होंने यहां एक शक्तिशाली राज्य स्थापित किया जिसके अभिलेख उनके पुरोहितों और सामन्तों द्वारा सुरक्षित बुरांजियों अथवा ऐतिहासिक महाकाव्यों में मिलते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में अंग्रेजों द्वारा उनका राज्य जीत लिये जाने तक वे वहां राज्य करते रहे। अहोमियों ने दूसरों को भी अपने में मिला लिया, उन्होंने गैर-अहोमियों के साथ मुक्त रूप से अंतरविवाह किये, असमिया भाषा अपनायी और धीरे-धीरे उनका हिंदूकरण हो गया। अन्य शान समूह–खामयांग, खामती, तुरंग, आइतोन, फकिअल आदि–असम में बाद में आये। वे ताई परिवार की भाषाएं बोलते थे और सांस्कृतिक दृष्टि से उन पर बर्मियों का प्रभाव था। वे बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और उन्होंने हिंदू धर्म अंगीकार नहीं किया। असम भारत की सांस्कृतिक प्रकियाओं के एक महत्वपूर्ण पक्ष को नाटकीय ढंग से चित्रित करता और दिखाता है कि विदेशी या अहिंदू समूह हिंदू समाज में किस तरह विलीन हो गये हैं।

जिस एक व्यक्ति ने असम के सांस्कृतिक व्यक्तित्व को आकार दिया और इस क्षेत्र के हिंदू समाज का रूपांतरण कर दिया, वह थे श्री शंकरदेव (1449-1569)। वह दार्शनिक, कवि, कलाकार, उपदेशक और समाज सुधारक थे। उन्होंने देखा कि असमिया समाज अव्यवस्थित दशा में है। विभिन्न जनजातीय मूलों के लोग हिंदू धर्म में अपने पुराने विश्वास और व्यवहार भी ले आये थे; उनकी परंपराओं की बहुलता के कारण काफी विभ्रम उत्पन्न हो गया था। शक्ति संप्रदायों ने पशुबलि (यहां तक कि नरबलि भी) और अनेक प्रकार के गुह्य आचारों के अतिरिक्त मदिरा, स्त्री, और मांस के भोग के प्रति आसक्ति के लोकाचार को बढ़ावा दिया था। बौद्ध धर्म के बज्रयान तथा सहजयान संघों के अनेक सिद्धांतों और व्यवहारों–कामुकता, जादू तथा अद्वैत दर्शन के अजीबोगरीब सम्मिश्रण–को भी आत्मसात किया था। इनके कारण मौजूदा अव्यवस्था और बढ़ी। जातियों को अनेक जटिल आदेशों, निषेधों तथा कर्मकांडों में बांध दिया गया था। निचले स्तरों पर स्थित जातियों को धार्मिक शिक्षा से वंचित कर दिया गया था। एक कुलीन कायस्थ परिवार में जन्मे श्री शंकरदेव स्थिति को सुधारने के काम में लग गये। वैष्णव धर्म के उनके संशोधित रूप ने आस्था और प्रार्थना के माध्यम से मुक्ति की धारणा को प्रचारित किया और उसे लोकप्रिय बनाया। उन्होंने मूर्ति पूजा को अस्वीकार कर एकेश्वरवाद का उपदेश दिया। उन्होंने समाज सुधार पर विशेष जोर दिया। हालांकि उन्हें बहुत विरोध का सामना करना पड़ा तथापि वह लगातार सहिष्णुता

का उपदेश देते रहे। उन्होंने अपने अनुयायियों को सलाह दी कि वे किसी की धार्मिक भावना को ठेस न पहुंचाएं। यह सत्य है कि वह जाति व्यवस्था की सारी बुराइयों को जड़ से खत्म नहीं कर सके किंतु असमिया समाज को एकतावद्ध करने और उसके एकीकरण का काम उन्होंने बखूबी किया।

उत्तर-पूर्व भारत में हिंदू धर्म में कई और पहेलियां भी है। पहाड़ियों से घिरी एक छोटी किंतु उपजाऊ घाटी मणिपुर मैती अथवा हिंदू मणिपुरियों का प्रदेश है जबकि पहाड़ियों पर जनजाति समूह बसे हैं। मैती की उत्पत्ति के अनेक सिद्धांत हैं। एक के अनुसार वे उन तातार समूहो के वंशज हैं जो तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में उत्तर-पश्चिम चीन से यहां आकर वस गये। दूसरे सिद्धांत के अनुसार एक नागा सेना प्रमुख पामहेइबा 1714 में मणिपुर का राजा वन गया। उसने हिंदू धर्म स्वीकार कर लिया और अजीब बात यह कि फारसी ध्वनि का नाम गरीब नवाज—गरीबों का रक्षक—रख लिया। औरों ने उसका अनुसरण किया। शासको की सेवा में लगे ब्राह्मणों ने उन्हें क्षत्रिय का दर्जा दे दिया जिसे बाद मे दूसरी जगहों के अधिकतर क्षत्रियों ने भी स्वीकार कर लिया। उन्होंने जाति के नियम-आचारों का पालन करना और आनुष्ठानिक पवित्रता के नियमों का पालन करना शुरू कर दिया। मणिपुर में हिंदू धर्म का अपना अलग रग है और उसमें भक्ति संगीत तथा नृत्य की गरिमापूर्ण शैलियों का विकास हुआ है। त्रिपुरा हिंदू धर्म तथा जनजातीय धर्मो के सहअस्तित्व का उदाहरण है। हिंदू चौदह देवताओं की पूजा करते हैं—हर अथवा शिव, उमा (शिव की पत्नी), हरि अथवा विष्णु, लक्ष्मी, सरस्वती, ब्रह्मा, पृथ्वी (धरती की देवी), समुद्र (सागर देवता), गंगा, अग्नि, कामदेव तथा हिमालय। इस सूची की कुछ विशेषताएं विलक्षण हैं : हिंदू समाज में (कुछ अपवादों को छोड़कर) अन्य सभी जगह ब्रह्मा की पूजा बंद कर दी गयी है और सूची में ब्रह्मा के बाद जो नाम हैं वे उन देवी-देवताओं में नहीं हैं जिनकी पूजा उत्तरी और दक्षिणी भारत में होती है। एक अनुश्रुति के अनुसार इन चौदह देवी-देवताओं की भारी भरकम विशाल प्रतिमाएं बर्मा के राजा के पास थीं। त्रिपुरा के राजा ने अपनी सेना भेजी जिसने युद्ध में बर्मा के राजा को हरा कर उन चौदह देवताओं के केवल सिर वापस लाने का फैसला किया क्योंकि उन बहुत भारी मूर्तियां को त्रिपुरा लाना कठिन होता। ये मूर्तियां पत्थर की बनी हैं; इनमें से तेरह सोने से और एक चांदी से मढ़ी है। सभी पुरोहित जनजातीय त्रिपुरी हैं न कि ब्राह्मण। मुख्य पुरोहित चन्ताई कहलाता है; उसके चार मुख्य सहयोगी नारायण कहलाते हैं। उनके 80 कनिष्ठ पुरोहित है जिन्हें गालिम कहते हैं। मूर्तियों के सिर लोहे की तिजोरी में रखे

हैं और प्रतिदिन बारी-बारी से इनमें से तीन की पूजा की जाती है। जून-जुलाई में एक सप्ताह के लिए, खारची उत्सव के समय इन्हें चारों ओर से खुली एक झोपड़ी में प्रतिष्ठापित किया जाता है और सभी चौदह देवताओं की पूजा की जाती है। इन दिनों पर उपासकों की ओर से गालिम बड़ी संख्या में बकरों की बलि देते हैं। एक अलग झोपड़ी में एक अन्य देवी—बुरामा—की मूर्ति रखी जाती है। खारची उत्सव के दौरान संतान की कामना करने वाली स्त्रियां देवी को सिंदूर चढ़ाती हैं और उनके दरबार में मोमबत्तियां जलाती है। इस जनजातीय देवी की पूजा सभी करती हैं। बलि में देवी का भी भाग होता हैं। त्रिपुरा इस बात का उदाहरण है कि कैसे जनजातीय परंपराएं हिंदू विरासत से जुड़ गयी हैं और कैसे दोनों समरसतापूर्ण ढंग से एक साथ कार्यरत हैं। इस स्थिति को और बेहतर ढंग से जानने की जरूरत है।

दक्षिण में हिंदू समाज का ताना-बाना उन शक्तिशाली क्षेत्रीय परंपराओं से प्रभावित हुआ था जो आर्यीकरण की प्रक्रिया के दौरान वहां मौजूद थीं। विद्वानों की मान्यता है कि तमिल समाज 200 ई.पू. में भलीभांति स्थापित था। एक प्राचीन (200 ई.) व्याकरण—थोलकप्पियम—तत्कालीन समाज के संगठन की कुछ झलकियां देता है और पर्वतीय क्षेत्रों, जंगलों, कृषित मैदानों, तटवर्ती और रेगिस्तानी क्षेत्रों के जीवन का विवरण देता है। समृद्ध और विपुल संगम साहित्य (200 ई.पू.—200 ई.) में हमें विखंडित सामाजिक गठनों से ऐसे राजाओं के शासन के अधीन विशालतर सुगठित राज्यों में विकसित होते तमिल समाज का चित्र मिलता है जिनकी वीरता और पराक्रम प्रसिद्ध थे। बुनकरों की नीची जाति में जन्मे तिरुवल्लुवार रचित महान तमिल गौरवग्रंथ तिरुक्कुरल (300 ई.) की तुलना कौटिल्य के अर्थशास्त्र और मनु की संहिता से की जा सकती है। लेखक के विषय में उसके सामाजिक मूल, और इस तथ्य के अलावा कि वह मायलापुर (अब मद्रास का उपनगर) के निवासी थे और वहीं काम करते थे, और वह हिंदू तथा जैन धर्मो की महान कृतियों से भलीभांति परिचित थे, और अधिक जानकारी नहीं है। तिरुक्कुरल में 133 अध्याय हैं। हर अध्याय में दस दोहे हैं। इस प्रकार इस पुस्तक में कुल मिलाकर 2,660 पंक्तियां और 1,330 दोहे अथवा कुर्रल हैं जो अपनी सक्षिप्तता के कारण नीति सूक्तों के रूप में सटीक हैं। यह कृति सदगुण, संपत्ति, और आनंद पर केंद्रित है; इसमें मुक्ति (मोक्ष) की बात नहीं है। यह गृहस्थ, संन्यासी, तपस्वी और सम्पन्न तथा प्रभावशाली व्यक्तियों के जीवन और विशेषताओ का वर्णन करती हैं। व्यक्तिगत सफलता और सामाजिक समरसता के लिए आचार संहिता निर्धारित करने में यह रचना सदैव 'अरम' को ध्यान में रखती है। अरम

वह महान शक्ति है जो व्यक्तियों, समाज और राज्य पर लगातार निगाह रखती है और जो उन सबको, जो उसके नियमों का पालन करते हैं, भौतिक और आध्यात्मिक संपदा प्रदान करती है। अरम में प्रेम और न्याय भी अंतर्निहित है, और वह सच्चाई के नियमों से डिगने पर राजकुमार और किसान में भेद नहीं करती। तिरुक्कुरल को तमिल वेद माना जाता है जिसमें लोगों की मान्यता है कि सच्चाई और नीतिपरायणता, नैतिकता, और न्याय के बारे में उनकी अंतरात्मा ही उन्हें संबोधित करती है। पारलौकिकता के बजाय इहलौकिकता पर जोर देने वाली रचना तिरुक्कुरल में शाश्वत वैधता की ध्वनि है।

भारतीय समाज व्यवस्था को प्रायः परिबद्ध और अनम्य माना जाता है और इसी रूप में उसका वर्णन किया जाता है। कुछ अर्थों में और विशेषकर इसके क्रमविकास के कुछ चरणों में यह वास्तव में सच भी है। लेकिन इसके अनेक अपवाद भी हैं। जनक क्षत्रिय राजा थे, लेकिन उनके संत स्वभाव और विद्वत्ता के कारण ब्राह्मण भी उनके चरणों में बैठते थे; एक अन्य क्षत्रिय राजा विश्वामित्र को ऋषि माना गया था और उन्होंने वैदिक सूक्त रचे। हालांकि उन्होंने पौरोहित्य की सर्वोच्चता को नकारा और वर्ण व्यवस्था से बाहर छूटे लोगों के लिए यज्ञ किये, इसके बावजूद उनका स्थान अटल बना हुआ है। वाल्मीकि सामाजिक दृष्टि से साधारण मूल के थे लेकिन महाकाव्य रामायण के रचयिता के रूप में उन्हें सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त है। 'महाभारत' महाकाव्य के लेखक वेद व्यास एक मछुआरिन के पुत्र थे। दार्शनिक, तथा धर्म के व्याख्याता विदुर दासीपुत्र थे। अनुश्रुति के अनुसार रुक्मिणी, जिनसे कृष्ण ने विवाह किया था, अरुणाचलप्रदेश की थीं; भीम की पत्नी हिडिम्बा नागा थीं; और अर्जुन का विवाह मणिपुर की चित्रांगदा तथा नागालैंड की उलूपी से हुआ। निश्चय ही अन्य अनुश्रुतियों में इन वधुओं का क्षेत्रीय मूल कुछ और बताया गया है। इस संदर्भ में महत्वपूर्ण बात है लोगों का विश्वास। लोग मानते हैं कि धर्म के उच्चतर मानदंडों वाले युगों में भी ऐसा होना संभव था और ऐसा हुआ भी था।

हिंदू धर्म की उत्पत्ति विविध साहित्यिक स्रोतों से हुई है जिनमें वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, श्रौत, गृह्य और धर्म सूत्र शामिल हैं। चार वेदों मे ऋग्वेद सबसे पुराना है। माना जाता है कि इसकी कुछ ऋचाओं की रचना 1000 ई.पू. से पूर्व हुई। अन्य तीन वेदों—साम, यजुर्, तथा अथर्ववेद—की रचना बाद में हुई। ऋग्वेद में घटनाओं का वर्णन भी है; इसमें कुल मिलाकर 1,028 ऋचाएं हैं जो आर्य देवताओं को समर्पित हैं। 'ब्राह्मण' वैदिक पाठ हैं जिनमें कर्मकांडों और बलि के

बारे में बताया गया है। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं, यजुर्वेद और अथर्ववेद का एक-एक ब्राह्मण है और सामवेद के आठ ब्राह्मण हैं। आरण्यक धर्म और दर्शन संबंधी ग्रंथ हैं। वे कर्मकांड से हटकर अमूर्त दार्शनिक चिंतन पर बल देने की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। वेदों से निकले उपनिषदों में अमूर्त विचार हैं और वे अद्वैत चिंतन के आधार प्रदान करते हैं। वेदाङ्ग वेदों के सहायक ग्रंथ हैं। श्रौत, गृह्य और धर्मसूत्र, जिनका उल्लेख पहले हुआ है, एक महत्वपूर्ण वेदाङ्ग 'कल्प' का हिस्सा हैं। गृह्य सूत्र विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे उन गृह कर्मकांडों को परिभाषित करते है जो हिंदुओं की पहचान हैं। पुराण भी महत्वपूर्ण हैं जो ब्रह्मा से उत्पन्न, और भारत के प्रथम राजा मनु स्वयंभू के वंशजों के मिथकीय इतिहास की खोज करते हैं। उनमें वर्णित कथा रामायण और महाभारत काल तक आती है और ऐतिहासिक काल के कुछ शासक राजवंशों तक विस्तृत है। रामायण और महाभारत महाकाव्यों का कालनिर्धारण करना कठिन है; महाभारत में वर्णित युद्ध संभवतः 950 ई.पू. के आसपास हुआ था हालांकि कुछ विद्वानों का दावा है कि यह युद्ध 3102 ई.पू. में हुआ था। भारतीय समाज पर जिन दो अन्य ग्रंथो का काफी प्रभाव है वे हैं कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' (321-300 ई.पू.) तथा 'मनुस्मृति' (मनु के कानून, 100-200 ई.)। कौटिल्य ने अपना ध्यान मुख्यतः शासन कला पर केंद्रित किया है, लेकिन उनके इस ग्रंथ में समाज के नियंत्रण तंत्र की भी चर्चा है। दूसरी ओर मनु ने एक संपूर्ण सामाजिक सहिता प्रदान की है। उनके ग्रंथ ने हिंदू समाज की संरचना के लिए एक रूपरेखा प्रदान की लेकिन क्षेत्रीय तथा जातिगत विविधताएं बनी रहीं। यह मानना कठिन है कि कभी भी मनु के सभी आदेशों का पूरे हिंदू समाज मे पालन हुआ।

हिंदू धर्म के रूप में जिसे हम जानते हैं, उसका विकास पर्याप्त संघर्ष और बहुत अनुकूलन तथा समझौते की दोहरी प्रक्रियाओं के जरिए हुआ। हिंदू शब्द आठवीं शताब्दी के आसपास आये आक्रमणकारी अरबों द्वारा सिंधु के पार रहने वाले लोगों के लिए गढ़ा गया प्रतीत होता है। इसका कोई धार्मिक व्यंजनार्थ नहीं था। प्राचीन और प्रारंभिक मध्यकालीन साहित्य में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस धर्म में अनेक वैदिक देवताओं का दर्जा घट गया। वरुण (वर्षा) और वायु ने अपनी प्रमुखता खो दी और उन्हें उनके उच्च पद से उतार कर दिग्पालों (सीमा रक्षक) की नीची स्थिति पर पहुंचा दिया गया। अग्नि और मित्र (सूर्य) की भी हैसियत काफी घट गयी। अब केवल उनका प्रतीकात्मक महत्व ही रह गया। इन्द्र का भाग्य ज्यादा खराब था। पहले वह 'देवताओं के देवता' और 'बज्र के

स्वामी' माने जाते थे, लेकिन बाद में उनका चित्रण निचले स्वर्गो में दरबार लगाने वाले एक आमोदप्रिय विलासी के रूप में किया गया। वह इतने शक्तिहीन हो गये थे कि उन्हें लगातार विष्णु और शिव का संरक्षण मांगना पड़ता था।

ऋग्वेद ने लिंग-उपासकों का उपहास किया था, यहां तक कि इंडो-आर्य उपासना स्थलों में उनका प्रवेश निषिद्ध कर दिया था। लेकिन बाद में जो नया स्वरूप उभरा उसमें हिंदुओं के दो प्रमुख सम्प्रदायों में से एक के प्रधान देवता शिव थे। लिंगम पूजा जारी रही, और उर्वरता के लिए उपासना का व्यापक चलन था। अनेक अनार्य मान्यताएं, देवी-देवता और कर्मकांड लोकप्रिय हिंदू धर्म में समाहित हो गये थे। भारत के पूर्वी हिस्सों में हिंदू धर्म के विस्तार और 'आर्यावर्त' तथा 'दक्षिणापथ' के बीच अवरोधक टूटने के परिणामस्वरूप हिंदू धर्म का एक संघीय स्वरूप उभरा। धार्मिक सिद्धांतों और कर्मकांडो की एक व्यापक संरचना को अस्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया गया लेकिन यह स्वीकृति स्थानिक, क्षेत्रीय और जाति परपराओं के मार्ग में बाधक नहीं बनी। ये परंपराएं कुछ फेर बदल के साथ जारी रहीं।

अपनी ढीली-ढाली और लचीली सरचना के कारण हिंदू धर्म ने विपथगामी और शास्त्रविरुद्ध सिद्धांतो, संप्रदायों और पंथों के विकास को स्वीकार किया; जैसे आजीविकों का दर्शन—आजीविक पूर्ण पूर्व नियति के दर्शन के अनुयायी थे—लोकायत या चार्वाक जो पूर्ण भौतिकवाद का उपदेश देते थे। इसके अतिरिक्त, कई प्रकार के तांत्रिक संप्रदाय भी हिंदू धर्म में विकसित हुए। हिंदू धर्म ने पर्याप्त मतभेदों और सुधारों को भी स्वीकार किया। जैन धर्म असहमति के कारण ही विकसित हुआ और पूरे देश में उसका प्रसार हुआ। बौद्ध धर्म भी इस लचीले परिवेश में ही उत्पन्न हुआ था जो धीरे-धीरे एक विश्व धर्म बन गया। बदले में हिंदुओं ने अंततः बुद्ध को विष्णु के एक अवतार के रूप में स्वीकार कर लिया। बाद में, सिख धर्म भी एक अलग धर्म के रूप में विकसित हुआ हालांकि उसने हिंदू और इस्लाम दोनों धर्मो के अनेक तत्व बेझिझक लिए थे। भक्ति संप्रदाय धर्म में परिवर्तन के एक और आयाम का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे पहले असहमति, तथा विरोध की अभिव्यक्ति के रूप में उभरे, लेकिन उनमें से अधिकतर को कालान्तर में कठोर संहिताओं में बांध दिया गया और आज वे लगभग एक जाति के रूप में कार्यरत हैं।

भारतीय समाज के ताने-बाने को समझने के लिए हमें इस देश में ईसाई धर्म और इस्लाम की लंबी उपस्थिति पर भी ध्यान देना होगा। इन दो में से ईसाई धर्म

भारत में पहले आया, लेकिन बाद में आने वाले इस्लाम ने समाज पर अधिक व्यापक प्रभाव डाला। दोनों ने पहले शांतिपूर्ण तरीकों से भारत में प्रवेश किया हालांकि बाद में उन्हें शासक ताकतों का समर्थन मिल गया। सामान्यतः दोनों धर्म समाज की विशिष्ट प्रकृति से प्रभावित हुए और दोनों ने समाज पर कुछ प्रभाव डाला। भारतीय परिवेश में ईसाई और इस्लाम धर्मों ने कुछ विशेषताएं अर्जित कीं। उन्हें भारतीय समाज का विदेशी या बाहरी तत्व नहीं माना जा सकता; वे इसके जैविकीय अंग हैं।

माना जाता है कि सेंट थामस (50 ई.) और उनके समकालीन सेंट वार्थोलोम्यू ईसाई धर्म को भारत में लाये। एक सुस्थापित मत के अनुसार जुडास थामस चांदी के बीस सिक्कों के मोल हब्बन नामक एक भारतीय व्यापारी के हाथ बेच दिया गया था। हब्बन को एक कुशल बढ़ई की तलाश थी। जुडास थामस भारतीयों का धर्मान्तरण कराने के लिए भारत जाने में हिचकिचा रहा था। 'ऐक्ट्स आफ सेंट थामस' के अनुसार जुडास थामस इसलिए हिचक रहा था क्योंकि वह महसूस करता था कि इस काम के लिए उसमें पर्याप्त क्षमता नहीं है। वह हिब्रू था और धर्म और दर्शन के क्षेत्रों में बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त भारतीयों को शिक्षा दे पाने लायक उसकी तैयारी नहीं थी। एक दिव्य दर्शन में ईश्वर ने उसे अपनी कृपा का आश्वासन दिया। अब भी हिचकिचाहट से भरा जुडास थामस लंबी यात्रा पर निकल पड़ा। वह पंजाब में गोंडोफोर्नीस के दरबार में गया और उन्हें ईसाई धर्म में दीक्षित करने का प्रयास किया। चूंकि गोंडोफोर्नीस ने स्वयं को देवपुत्र अथवा देवानामूप्रिय (देवताओं को प्रिय) की उपाधि देने के बजाय देवव्रत (देवताओं को समर्पित) उपाधि दी इसलिए दावा किया गया कि सेंट थामस अपने अभियान में सफल हुए थे लेकिन इसके साक्ष्य बहुत विश्वसनीय नहीं है। इस बात में कोई संदेह नहीं कि केरल में ईसाई धर्म का प्रसार उनके ही प्रयासों से हुआ। जब पुर्तगाली भारत आये उस समय ईसाई धर्म का प्रसार केरल के सभी सत्रह राज्यों में हो चुका था। केरल उस समय सत्रह राज्यों में विभाजित था। केरल में ईसाइयों के कई गिरजाघर थे, पचास बस्तिया थी और उनकी संख्या 1,00,000 थी। इस तथ्य की पुष्टि अभिलेखों से होती है जिनमें बताया गया है कि जब सिकन्दरिया स्कूलों का पहला प्रधानाचार्य पैंटीनस भारत आया, उसने देखा कि मालाबार में ईसाई समुदाय फल-फूल रहा था। जब सेंट थामस अपने अभियान पर पंजाब गये उस समय पश्चिम भारत में सेंट बार्थोलोम्यू सक्रिय थे। माना जाता है कि मुंबई के निकट कल्याण ईसाई धर्म के एक प्रमुख केंद्र के रूप में उभरा था। सेंट

बार्थोलोम्यू के अतिरिक्त, विशेष रूप से आमंत्रित एक विरागी दार्शनिक–पैंटीनस–कल्याण में भारत के ब्राह्मणों और दार्शनिकों को उपदेश दे रहा था। उसने क्या प्रभाव डाला, यह ज्ञात नहीं है।

सेंट थामस ईसाइयों का समाज में क्या स्थान था ? सोलहवीं शताब्दी में जब पुर्तगाली आये उन्हें नज़रानी कहा जाता था। जाति स्तरीकरण में उनकी स्थिति कमोबेश ब्राह्मणों के समान थी और वे नायरों से श्रेष्ठ माने जाते थे। अपना अभिजात्य बनाये रखने के लिए वे हीन जातियों–जिनमें नायर शामिल थे– का स्पर्श नहीं करते थे। दूसरों के नजदीक आने पर वे दूर से चिल्लाते थे ताकि नीची जातियां उनके लिए रास्ता छोड़ दें। यहां तक कि उन्हें उनका रास्ता काटने वाले नीची जातियों के सदस्यों की हत्या करने का भी अधिकार प्राप्त था। उच्चतर प्रस्थिति और आभिजात्य पाने के अपने प्रयास में उन्होंने राजाओं का धर्मान्तरण कराने का प्रयास किया और उच्च जातियों पर विशेष ध्यान दिया। इस तरह उन्होंने अपने धर्म के संदेश के एक महत्वपूर्ण पक्ष को कमजोर कर दिया। लेकिन प्रारंभिक ईसाइयो को हिदू बहुत सम्मान देते थे। भारत में पुर्तगालियों के आगमन और उनके यहां बसने के साथ स्थितियां बदलने लगीं। जब 1542 में सेंट फ्रासिस जेवियर गोआ आये, तब वह एक ईसाई बस्ती बन चुका था। वहां चौदह गिरजाघर और सौ से ज्यादा पादरी थे। सेंट फ्रांसिस ज़ेवियर ने धर्मोपदेश देने पर ही ध्यान केंद्रित किया, लेकिन गोआ के मुख्य पादरी (आर्कबिशप) डि मेनज़ेस की ज्यादा दिलचस्पी मालाबार के पुराने ईसाइयों पर पड़े हिंदू प्रभाव को मिटाने में थी। अंतर्विरोधों और दुविधाओं का सबसे अच्छा उदाहरण हमें इतालवी ईसाई (जेसुइट) रोबेर्टो डि नोबिली के जीवन और कृतित्व में मिलता है। वह 1605 में गोआ आये और 1656 में म्यालापुर (चेन्नई) में उनकी मृत्यु हुई। वह एक हिंदू साधु की तरह रहते थे, भगवा कपड़े पहनते थे और अपने आहार और सामाजिक संबंधो में कर्मकांडीय पवित्रता के नियमों का पालन करते थे। यूरोपीय सेनाओं की सुरक्षा के बिना और सुदूर इलाकों में कार्यरत रोबेर्टो डि नोबिली लोगों के साथ तमिल तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में बातचीत करते थे। वह ब्राह्मणों के साथ संस्कृत में चर्चा करते जिस पर उन्होने अधिकार प्राप्त कर लिया था। उन्हें हिंदू दार्शनिक और धार्मिक चिंतन का ज्ञान था और वह हिंदू धर्म को भीतर से जीतने के लिए प्रयासरत थे। डि नोबिली ईसाई धर्म के त्वरित प्रसार के लिए चाहते थे कि हिंदू समाज के शीर्ष स्तर के लोग ईसाई धर्म से अभिभूत हो ईसाई धर्म अपना लें। वह निम्न जाति के मूल वाले ईसाइयों के संपर्क से बचते थे। यहां तक कि वह उनके

पादरियों से भी नहीं मिलते थे। सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक डि नोबिली और उनके सहयोगियों ने 150,000 लोगों का धर्मान्तरण कर उन्हें ईसाई बना दिया था। लेकिन उनके इस तरीके को सबका समर्थन नहीं मिला और उन्हें चर्च तथा स्थानीय अधिकारियों द्वारा की जाने वाली जांच का सामना करना पड़ा।

भारत में ईसाई धर्म के परवर्ती विकास के बारे में चर्च की विदेशी शक्तियों—पुर्तगाली, डच, ब्रिटिश, और फ्रांसीसी—के साथ जुड़ाव के कारण बेहतर जानकारी है। विविध राष्ट्रीयताओं और पंथों के ईसाई मिशनरियों ने यहां ईसाई धर्म संबंधी तथा मानवता का पर्याप्त कार्य किया। केरल तथा तमिलनाडु के अतिरिक्त भारतीय संघ के अधिकतर राज्यों में ईसाई धर्म के क्षेत्र हैं। कम से कम तीन जनजातीय उत्तरपूर्वी राज्यों में पर्याप्त ईसाई बहुसंख्यक हैं। छोटा नागपुर की जनजातियों के बीच भी ईसाई काफी संख्या मे हैं। हो सकता है कि ईसाई यूरोपीय शासकों के साथ अपने साहचर्य के कारण भारतीय समाज की मुख्य धारा से दूर हो गये हों लेकिन इसके साथ अतीत में उनके सहज, जैविकीय संबंध रहे हैं। यह याद रखना आवश्यक है कि पश्चिमी तट पर ईसाई धर्म बौद्ध धर्म के साथ पुष्पित-पल्लवित हुआ और ईसाई संतों के बीच बुद्ध की प्रतिमा भी स्थापित है। सेंट जोसाफट (पहलवी, सीरियायी, और यूनानी से लैटिन में अनुवादों की 'कृपा' से बोधिसत्व का बिगड़ा रूप) के रूप में बुद्ध कैथलिक विरासत का भी हिस्सा हैं। इस विषय में मैक्समूलर ने कहा है, "ग्रीक या रोमन चर्च का कोई व्यक्ति यदि उनकी (बुद्ध की) स्मृति को वह सम्मान देता है जो सेंट जोसाफट—राजकुमार, तपस्वी तथा संत—को देय है तो उसे लज्जित होने की कोई जरूरत नहीं है।"

भारत में इस्लाम के विषय में कुछ स्थायी रूढ़िबद्ध धारणाएं हैं। पहली यह कि इस्लाम का प्रसार तलवार के जोर पर हुआ। दूसरी यह कि भारतीय समाज इतना कमजोर और बिखरा हुआ था कि वह इस्लामी हथियारों की ताकत का प्रतिरोध नहीं कर सका। तीसरी धारणा के तहत यह माना जाता है कि इस्लाम और हिंदू धर्म के बीच लंबी मुठभेड़ चली। इसके अनुसार इस्लामी शासन का मुख्य उद्देश्य अपने धर्म का प्रसार करना था। चौथी धारणा के अनुसार यह अंतर्निहित है कि इस्लामी शासन के तहत गैर-मुस्लिमों के मुकाबले सभी मुसलमान सुविधा-प्राप्त और श्रेष्ठ स्थिति में थे। इन सभी रूढ़िबद्ध धारणाओं में प्रत्येक या तो गलत है या फिर अधिक से अधिक केवल आंशिक रूप से सत्य है।

भारत में इस्लाम पहले शांतिपूर्ण तरीकों से और प्रायः हिंदू शासकों के प्रोत्साहन के साथ आया। पश्चिमी तट पर उत्तर में बल्हारा राजवंश और मालाबार

तट के जामोरिन ने मुसलमान व्यापारियों का स्वागत किया और अनहिलवाड़ा, कालीकट, और क्विलोन जैसी जगहों पर बसने के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया। वे मुक्त रूप से मस्जिदें बना सकते थे और अपने धर्म का पालन कर सकते थे। अरबी और फारसी आप्रवासी तट के किनारे-किनारे बस गये। उन्होंने गैर-मुसलमान स्त्रियों से विवाह किया। कोंकणी के नवैत (नातिया) तथा मालाबार तट के मपिल्ला (मोपला) सम्प्रदाय का जन्म इसी प्रक्रिया में हुआ। हालांकि अनुश्रुतियां इस्लाम के प्रसार का समय इसके पूर्व होने का दावा करती हैं किंतु ऐतिहासिक अभिलेखों से संकेत मिलते हैं कि आठवीं शताब्दी में मुसलमान भारत के निवासी बन गये थे। चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभ में भारत आने वाले यात्री इब्न बतूता ने मालाबार को ऐसे समृद्ध व्यापारियों से भरा पाया था जो इस्लाम को मानते थे तथा जिन्होंने शानदार मस्जिदें बनवायी थीं। तमिलनाडु के पूर्वी तट के लब्बाइयों को तमिल स्त्रियों के अरबों के साथ साहचर्य से उत्पन्न बताया जाता है। ये अरब अपना जहाज टूट जाने अथवा इराक से निष्कासित किए जाने के कारण यहां आ गये थे।

यहां उन यायावर उपदेशकों का उल्लेख भी आवश्यक है जिन्होंने इस्लाम के शांतिपूर्ण प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। वे ग्यारहवीं शताब्दी से भारत आने लगे थे। वे स्वेच्छा से यहां आये। उनमें से कुछ बहुत विद्वान थे। सभी में इस्लाम के प्रचार-प्रसार का निजी तौर पर जोश था। इनमें से केवल कुछ धर्मप्रचारकों को आक्रमणकारी भारत लाये थे। सबसे पहले आने वाले मुस्लिम उपदेशकों में, जो शांतिपूर्ण ढंग से भारत आये, बुखारा के शेख इस्माइल थे जो यहां 1005 ई. में आये। उन्होंने लाहौर में अपना अधिष्ठान बनाया। उन्हें पर्याप्त धार्मिक तथा सांसारिक ज्ञान था और उन्होंने अपने श्रोताओं को बहुत प्रभावित किया। अब्द अल्लाह 1067 में यमन से आये। उन्होंने गुजरात में उपदेश दिया। उन्हें बोहरों का पहला धर्मप्रचारक माना जाता है। इस तरह के उपदेशकों की सूची लंबी है और हम उनमें से केवल उन कुछ नामों का ही उल्लेख कर सकते हैं जिनका प्रभाव आज तक बना हुआ है। इनमें नूरुद्दीन हैं जो नूर सतागर नाम से ज्यादा प्रसिद्ध हैं। यह नाम उन्होंने हिंदू भावनाओं के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए अपनाया था। वह बारहवीं शताब्दी में फारस से गुजरात आये थे। खोजा उन्हें अपना प्रथम धर्मप्रचारक मानते हैं। बुखारा के सैयद जलालुद्दीन (1190-1291 ई.) और उनके वंशजों ने पहले सिंध में काम किया और बाद में उनकी गतिविधियों का विस्तार पंजाब तक हुआ। निस्संदेह, इनमें सबसे प्रसिद्ध हैं ख्वाजा मुइनुद्दीन

चिश्ती जो पूर्वी फारस से आये थे। उन्होंने अजमेर को अपना केंद्र बनाया और वहीं 1236 ईसवी में उनकी मृत्यु हुई। आज भी उनकी दरगाह में भारत-पाक उपमहाद्वीप से बहुत बड़ी संख्या में श्रद्धालु आते हैं जिनमें मुसलमान और गैर-मुसलमान दोनों शामिल हैं। बू अली कलंदर भी इसी शताब्दी में भारत आये। वह पानीपत में बसे और उन्होने अनेक लोगों को इस्लाम में धर्मान्तरित किया। इनमें से अनेक राजपूत थे। बंगाल में अनेक मुसलमान संतों की मजारें और दरगाहें हैं। इनमें से प्राचीनतम दरगाहों में से एक शेख जलालुद्दीन तबरिजी की है। उनका निधन 1244 ई. में हुआ। उनकी मजार के बारे में जानकारी नहीं है लेकिन उनकी स्मृति में निर्मित दरगाह में अब भी बड़ी संख्या में श्रद्धालु बाहर से आते हैं। तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी में अनेक धर्मप्रचारक पंजाब, कश्मीर, दक्षिण, तथा पूर्वी और पश्चिमी भारत मे सक्रिय थे। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं बाबा फरीदुद्दीन तथा अहमद कबीर (मखदूम-ए-जहानियां नाम से भी प्रसिद्ध) जिन्होंने मुख्य रूप से पंजाब में काम किया, और बुलबुल शाह जो कश्मीर में सक्रिय थे। दक्षिण में मुहम्मद गीसू दराज़ और पीर महाबीर खमदयात प्रसिद्ध है। यह सूची अनंत है क्योंकि मुसलमान पीरों और संतों की मजारें और दरगाहें देश भर में फैली हैं। जिस बात पर जोर दिए जाने की जरूरत है वह यह है कि इन धर्मप्रचारकों ने इस्लाम के संदेश का प्रचार-प्रसार प्रेम के जरिये तथा राज्य की हथियार की ताकत की मदद के बिना किया। निस्संदेह तलवार ने धर्मपरिवर्तन कराया लेकिन इससे शत्रुता भी पैदा हुई। पीरों और संतों ने समझाने, विश्वास पैदा करने का रास्ता अपनाया और गैर-मुसलमानों के बीच भी उनके कृतज्ञ और समर्पित अनुयायी अब भी मौजूद हैं।

अपनी स्थापना के एक शताब्दी के अंदर ही, इस्लाम राजनीतिक दृष्टि से मजबूत बन गया। पैगंबर के मक्का से मदीना चले जाने के एक सौ साल से कम अवधि में ही इस्लामी शासन चीनी सीमा से स्पेन में अटलांटिक तट तक फैल गया। लेकिन इस विस्तारवादी चरण में इस्लाम ने भारत में कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि प्राप्त नहीं की। 712 ईसवीं में मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध पर विजय प्राप्त की, तथा भड़ौच, गुजरात और मालवा पर चढ़ाई का प्रयास किया। प्रारभ में उसने कुछ लड़ाइयां जीत भी लीं लेकिन वह अपना लक्ष्य हासिल करने में असफल रहा। मालवा विजय का उसका प्रयास गुर्जर नरेश नागभट्ट ने असफल कर दिया। उन्होंने उसे पराजित कर वापस खदेड़ दिया। छह वर्ष बाद, 731 ईसवी में उसके उत्तराधिकारी तानिम ने मालवा को घेर लिया और दक्षिण के एक हिस्से पर कब्जा

करने का प्रयास किया। 738 ईसवी में चालुक्य राजा ने उसे निर्णयात्मक ढंग से पराजित किया। के.एम. पणिक्कर का मानना है कि इस लड़ाई के परिणामस्वरूप भारत लगभग 275 वर्ष तक बचा रहा और इस अंतराल में भारतीय सीमाक्षेत्र पर कोई बड़े हमले नहीं हुए। एकमात्र अपवाद 883 ईसवी में इमाम बिन मूसा का कच्छ पर हमला था। सिंध के इस सूबेदार को मिहिर भोज ने पराजित किया।

लगभग तीन शताब्दियों तक इस्लामी आक्रमणकारियों के हमलावर मनसूबे नाकाम कर दिए गए थे लेकिन बाद में उन्हें रोका नहीं जा सका। जो आधी दुनिया में पहले हो चुका था उसे फिर भारत में दोहराया गया।

यहां इस समय, उत्तरी पश्चिमी मार्ग से भारतीय क्षेत्रों की विजयों तथा कई शताब्दियों तक दिल्ली अथवा आगरा से भारत पर शासन करने वाले मुस्लिम राजवंशों का एक संक्षिप्त विवरण देना उपयोगी होगा :

ईसवी 712	सिंध पर अरब विजय
997-1030	महमूद गजनवी (तुर्की मूल) के हमले और लूट
1192	मुहम्मद गौरी (तुर्की अफगान) ने पृथ्वीराज चौहान को पराजित किया
1206	कुतुबुद्दीन ऐबक (तुर्की अफगान) द्वारा गुलाम वंश की स्थापना
1296-1316	अलाउद्दीन खिल्जी का शासन
1325-51	मुहम्मद बिन तुगलक (तुर्की मूल) का शासन
1414-50	दिल्ली में सैयदों का शासन (पहला सैयद सुल्तान तैमूर द्वारा मनोनीत था)
1451	बहलुल लोदी (अफगान मूल) की चढ़ाई (लोदियों ने 1526 तक शासन किया)
1526	पानीपत की पहली लड़ाई; बाबर द्वारा मुगल साम्राज्य की स्थापना (तेरहवीं शताब्दी और चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभ में मंगोलों ने तथा 1938 में तैमूर ने भारत में बड़े पैमाने पर छापे मारे और लूटपाट की)

गजनवी द्वारा भारत पर आक्रमण किए जाने तक देश की सामाजिक-राजनीतिक स्थितियां बदल चुकी थीं। प्रतिद्वंद्वी राज्यों की आपसी लड़ाइयों ने भारतीय प्रतिरोध को कमजोर कर दिया था। फिर भी इस चुनौती का प्रत्युत्तर देने के कुछ वीरतापूर्ण प्रयास हुए थे। उदाहरणार्थ, जब महमूद गजनवी ने सोमनाथ के पवित्र मंदिर पर आक्रमण किया तब धार के परमार राजा भोज ने काठियावाड़ के भीतर प्रवेश कर महमूद की वापसी का रास्ता रोक कर महमूद गजनवी को बहुत अपमान, अवसाद और कठिनाइयां झेलने और एक जलहीन क्षेत्र से होकर वापस

जाने पर मजबूर कर दिया। जैसा हम पहले देख चुके हैं, भारत पर पहले भी आक्रमण हुए थे और आक्रमणकारी विजयी हुए थे; शक, कुषाण और हूण मध्य एशिया से आये थे और प्रारंभिक मुठभेड़ों के बाद भारतीय समाज में विलीन हो गए थे। इस्लामी आक्रांताओं के साथ चली मुठभेड़ लंबी और अधिक कटु थी क्योंकि वे अपने साथ अपना धर्मशास्त्र भी लाये थे और मानते थे कि केवल उनका धर्म ही सत्य है। एक विभाजन हुआ, लेकिन इसके साथ ही समझौता-सुलह कराने वाली शक्तियां भी कार्यरत थीं। मुस्लिम शासक भारत में केवल इस्लाम के प्रचार-प्रसार के लिए ही नहीं थे बल्कि उनके अन्य स्वार्थ भी थे। उनमें से कुछ ने अन्य की तुलना में अधिक गंभीरतापूर्वक समाज के इस्लामीकरण का बीड़ा उठाया; खराज (भूमि और संपत्ति कर) के अतिरिक्त जिज़या (चुंगी कर) लागू करने जैसी विभेदकारी नीतियों का कुछ शासकों ने अधिक उत्साहपूर्वक पालन करवाया जबकि अन्य ने इन पर जोर नहीं दिया।

सिद्धांततः इस्लाम धर्म के अनुसार इस्लामी शासन के तहत गैर-मुसलमानों के समक्ष तीन विकल्प होते हैं : इस्लाम धर्म अंगीकार करना, मुसलमान शासन स्वीकार करना, धिम्मी बन जाना और जिज़या तथा खराज अदा करना; अथवा युद्ध करना। तकनीकी दृष्टि से धिम्मी का दर्जा पाने की योग्यता केवल अहल-उल किताब में थी अर्थात् वे जिनके पास उद्घाटित ज्ञान की पवित्र पुस्तक थी। हिंदू अहल-उल-किताब नही थे। अतः उनके समक्ष दो ही विकल्प थे : इस्लाम धर्म स्वीकारना अथवा मृत्यु। मुस्लिम शासन के लंबे वर्षो के बावजूद बहुसंख्यक लोग हिंदू बने रहे। यह संभव न होता यदि इस्लाम की शर्तों का कठोरतापूर्वक पालन किया गया होता। सेना, राज्य प्रशासन, व्यापार और वाणिज्य सभी कुछ हिंदुओं की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सहायता-समर्थन पर निर्भर था। इस प्रकार, घृणित जिज़या के संदर्भ में हम देखते हैं कि कभी इसे लागू किया जाता था फिर खत्म कर दिया जाता था, और कोई अन्य उत्साही इसे फिर लागू कर देता था। वस्तुतः इस्लाम का भारतीयकरण हो गया था। इस प्रक्रिया में भारत में इसने कुछ विशिष्टताएं ग्रहण कीं। कला और वास्तुकला, दर्शन तथा धर्म, औषध व अन्य इहलौकिक ज्ञान के क्षेत्रों में पर्याप्त आदान-प्रदान हुआ। अकबर जैसे शासकों ने विभिन्न समुदायों के बीच सेतु बनाने का प्रयास किया। धीरे-धीरे एक संयुक्त संस्कृति विकसित हो रही थी।

यहां यह भी बताना उचित है कि भारत में हिंदू शासन का कभी पूरी तरह सफाया नहीं हुआ। सल्तनत के दौरान विजयनगर का हिंदू राज्य एक प्रभावशाली

ताकत था। कई अन्य क्षेत्रों विशेषकर दक्षिण में हिंदू शासक अपने अधिकार पर दृढ़ बने रहे और अपनी स्वतंत्रता बनाए रहे अथवा उसे वापस प्राप्त कर सके। मुगल काल में राणा प्रताप जैसे योद्धाओं ने समर्पण करने से इन्कार कर दिया, अन्य ने कुछ समायोजन स्थापित किया जिससे उन्हें पर्याप्त आंतरिक स्वायत्तता मिल गयी थी।

क्या मुसलमान श्रेष्ठतर स्थिति में थे ? तकनीकी दृष्टि से सभी मुसलमान इस्लामी राज्य के नागरिक थे; जबकि अन्य धर्मों के अनुयायी नहीं थे। लेकिन मुसलमान समाज के भीतर भी आंतरिक भेदभाव था। उदाहरण के लिए अशराफ (विदेशी मूल के समूहों से अपनी वंश परंपरा का दावा करने वाले) और अजलाफ (निम्न हिंदू जातियों से इस्लाम में धर्मान्तरित लोग) के बीच के अंतर पर विचार करें। अजलाफ की सामाजिक स्थिति निश्चित रूप से नीची थी। जैसाकि हम बाद में देखेंगे, इस्लाम धर्म अंगीकार कर लेने वाले अनेक निम्नतर समूहों का समाज में कमोबेश वही पुराना स्थान बना रहा। कुछ हिंदुओं को शाही दरबार में ऊंचे पद प्राप्त थे। कुछ हिंदू सेनापति पद पर भी थे। हिंदू और मुसलमान आभिजात्य के बीच अंतःक्रिया अधिक घनिष्ठ थी। गरीब मुसलमान सत्तारूढ़ वर्ग के धर्म का होने का मनोवैज्ञानिक संतोष पा सकते थे किंतु आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से वे पिछड़े और शोषित बने रहे।

भारत के मुसलमान शासकों ने सांप्रदायिक सौहार्द्र का मूल्य समझा और अंतरसमुदाय सहिष्णुता और समझदारी के महत्व को महसूस किया। देखिए, बाबर अपने पुत्र हुमायूं के नाम लिखी अपनी निजी वसीयत में क्या कहता है :

"ओ मेरे बेटे : हिदुस्तान में विविध धर्मों के लोग रहते हैं; और हमें ईश्वर का शुक्रगुजार होना चाहिए कि राजाओं के राजा ने इस देश का शासन तुम्हें सौंपा है। इसलिए तुम्हारे लिए यह उचित होगा कि :

"1. तुम्हें चाहिए कि तुम धार्मिक पूर्वग्रहों को अपने मन पर असर न डालने दो और जनता के सभी वर्गो की धार्मिक संवेदनशीलताओं और धार्मिक रीति-रिवाजों को उचित सम्मान देते हुए निष्पक्ष न्याय करो।

"2. विशेषकर, गोवध से दूर रहो, इससे तुम्हें भारत के लोगों के दिलों में जगह पाने में मदद मिलेगी। इस तरह तुम देश के लोगों को कृतज्ञता के बंधन द्वारा अपने साथ बांध सकोगे।

"3. तुम्हें कभी किसी संप्रदाय के उपासना स्थल को नष्ट नहीं करना चाहिए और हमेशा न्यायप्रिय होना चाहिए ताकि बादशाह और उसकी रियाया के

बीच संबंध स्नेहपूर्ण बने रहें और देश में शांति और संतोष रहे।

"4. बेहतर होगा कि इस्लाम का प्रसार दमन की तलवार की बजाय प्रेम और कर्तव्य की तलवार के जरिये किया जाये।

"5. शियाओं और सुन्नियों के बीच के मतभेदों को हमेशा अनदेखा करना वरना वे इस्लाम को कमजोर करेंगे।

"6. अपनी प्रजाओं की भिन्न-भिन्न विशेषताओं को वर्ष की विभिन्न ऋतुओं की तरह समझना और उनके प्रति वैसा ही व्यवहार करना ताकि देश की राजनीति रोगों से मुक्त बनी रहे।"

मध्य एशिया से आने वाले विदेशियों के अतिरिक्त अन्य विदेशी शक्तियां भी भारत आयीं। पुर्तगाली 1499 में नौसैनिक शक्ति के रूप में भारतीय समुद्र में प्रविष्ट हुए। पश्चिमी तट पर उनके पास छोटा भूभाग था किंतु समुद्र व्यापार का बड़ा हिस्सा उनके अधिकार में था। सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में एक के बाद एक आगे-पीछे डच और अंग्रेज भारत आये। उसके कुछ समय बाद फ्रांसीसी आये। विविध कारणों से डचों ने पूर्व की ओर जाने का निश्चय किया और वे इंडोनेशिया में स्थापित हुए। उन्होंने 1641 में मलक्का (अब मलेशिया में) और 1654 में सीलोन (अब श्रीलंका) पर कब्जा कर लिया। अंग्रेजों ने स्वयं को भारत में सुस्थापित किया और 14 अगस्त 1947 तक वे किसी न किसी रूप में यहां बने रहे। फ्रांसीसी हस्तक्षेप अपेक्षतया संक्षिप्त अवधि का था और उसका प्रभाव सीमित था।

पुर्तगालियों ने प्रशासन अथवा राष्ट्र निर्माण गतिविधि में अपनी पहचान नहीं बनायी। उन्होंने अपने अधिकारक्षेत्र के लोगों के धर्म, पाक कला, संगीत तथा आमोद-प्रमोद पर कुछ प्रभाव डाला। गोआ का सांस्कृतिक व्यक्तित्व गढ़ने में उनका कुछ हाथ रहा यद्यपि यह व्यापक तौर पर गोआवासियों के सृजनात्मक अनुकूलन का भी उदाहरण है। फ्रांसीसी प्रभाव उन्हीं छोटे-छोटे क्षेत्रों तक सीमित रहा जो उनके अधिकार में थे। अंग्रेजों की उपस्थिति विशालकाय थी और नकारात्मक तथा सकारात्मक दोनों दृष्टियों से उनका पर्याप्त प्रभाव था। प्रारंभिक अवधि में वे यहां के लोगों के साथ मित्रतापूर्वक रहे। कुछ अंग्रेज भारतीय कुलीन वर्ग से होड़ लेते हुए नवाब बन गए। अनेक ने नर्तकियों को संरक्षण प्रदान किया, और भारतीय रखैलें रखीं। लेकिन इस प्रारंभिक दौर के बाद उन्हें सलाह दी गयी कि वे अपने आपको भारतीयों से अलग अपने एकांतिक आवासों, छावनियों, और क्लबों में ही सीमित रखें। देशजों के साथ उनके संबंध सतर्कतापूर्ण थे। प्रभुत्वपूर्ण

शक्ति बन जाने पर उनकी आर्थिक नीति शोषणपरक थी जिसके परिणामस्वरूप देश की संपदा बाहर चली गयी। भारतीय शिल्प को गहरा आघात लगा। अंग्रेजों ने अपने प्रति निष्ठावान व्यक्तियों का एक स्थायी समूह सुनिश्चित करने के लिए एक नए भूस्वामी आभिजात्य वर्ग तथा प्रशासनिक सेवा के मध्य और निम्न पद सोपान का निर्माण किया। अपने आदमियों को खुश रखने के लिए उपाधियों, खिताबों, सम्मानों और सनदों की एक जटिल व्यवस्था बनायी गयी। स्थानीय रीतिरिवाजों में हस्तक्षेप कम से कम था। केवल ठगी अथवा सती जैसी बड़ी कुरीतियों को खत्म करने के लिए ही हस्तक्षेप किया गया। समान प्रशासनिक व्यवस्था, समान दंड संहिता, तथा समान नागरिक प्रक्रिया संहिता (सिविल प्रोसीजर कोड) और रेलवे संजाल द्वारा देश का एकीकरण किया गया था। इस विदेशी शासन के प्रत्युत्तर मे भारतीयों ने एक नयी आत्मछवि विकसित की और एक भारतीय पुनर्जागरण की दिशा मे पहल की। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवी वर्ग, जिसका सृजन शुरुआत में ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठावान सेवकों के रूप में किया गया था, ब्रिटिश कुशासन और अतियो का आलोचक बन गया और उसने स्वतंत्रता के लिए आंदोलन छेड़ दिया। भारतीय समाज अपनी असमर्थताओं, कमजोरियों और दोषों के प्रति जागरूक और संवेदनशील हुआ। विदेशी शासन को रचनात्मक जवाब देने में भारतीय समाज में सुधार और सामाजिक रूपांतरण के लिए नए आवेग और स्पंदन जागृत हुए।

2

विविधता और एकता

भारत की जिस एक विशेषता पर सबसे ज्यादा ध्यान जाता है वह है विविधता में उसकी एकता। यह घिसा-पिटा मुहावरा भारत की अपनी पहचान का हिस्सा बन गया है। अतीत में विदेशी यात्रियों—मेगस्थनीज (लगभग 315 ई.पू.) फा ह्सिन (405-11), हुएन त्सांग (630-44 ई.) अलबिरूनी (1030 ई.), मार्को पोलो (1288, 93), तथा इब्न बतूता (1325-51) आदि—की दृष्टि में भी यह विशेषता आयी और उन्होंने अपने अभिलेखों में इसका उल्लेख किया। 1947 में भारत का विभाजन हुआ जिसमें भारत के सिंधु घाटी सभ्यता के सर्वाधिक प्रसिद्ध केंद्र तथा प्रारंभिक इंडो-आर्य से जुड़े पंचनद का बड़ा हिस्सा इससे छिन गया। विभाजन के बाद से यह पक्ष (विविधता में एकता) अतीत के यथार्थ तथा भविष्य की आशा दोनों रूपों में उत्कट रूप से मुखरित हुआ है। 1951 से 60 और 1961 से 70 के दशकों की उथल-पुथल और 1980 के दशक की अशांति, विक्षोभ (पहले उत्तर पूर्व में, फिर अस्थायी रूप से तमिलनाडु में, और 80 के दशक में पंजाब, उत्तर-पूर्व, असम, 'गोरखालैंड', 'झारखंड' तथा अन्य क्षेत्र) ने देश की सांस्कृतिक विविधता बनाये रखने के साथ-साथ यह सुनिश्चित करने की जरूरत को भी बार-बार दोहराने को विवश किया है कि विभिन्न नृजातीय समूहों और समुदायों की अपनी अपनी पहचान खत्म न होने पाये। सांस्कृतिक बहुलवाद की इस स्वीकृति से आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक एकीकरण को बढ़ावा देने के आदर्श का महत्व कम नहीं होता।

विविधता के स्रोत क्या हैं ? इनमें सर्वाधिक स्पष्ट हैं नृजातीय (एथनिक) मूल, धर्म, और भाषाएं। मुख्य प्रजातीय तत्व कुल मिलाकर छह हैं। इन पर पहले अध्याय में चर्चा की जा चुकी है। लेकिन यह याद रखना जरूरी है कि भारतीय

आबादी का बड़ा हिस्सा विविध अंशों में प्रजातीय अधिमिश्रण का उदाहरण है। प्रजातीय मूल कितने ही क्षीण क्यों न हों वे अधिकतर समुदायों की जातीय स्मृति का एक हिस्सा हैं। अपनी पहचान और आत्म छवि गढ़ने में इनकी बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है। किसी आर्य या द्रविड़ प्रजाति की बात करना गलत है क्योंकि ये शब्द केवल भाषायी परिवारों के लिए इस्तेमाल किये जा सकते हैं लेकिन ये इतने प्रचलन में हैं कि इन्हें अस्वीकार करना अकादमिक पाखंड लग सकता है।

धार्मिक सीमाएं ज्यादा स्पष्ट रूप से अंकित हैं। भारत में आठ मुख्य धार्मिक समुदाय हैं : हिंदू (82.7 प्रतिशत जिनका एक बड़ा हिस्सा—लगभग 16 प्रतिशत—अनुसूचित जातियां हैं), मुसलमान (11.8 प्रतिशत), ईसाई (2.6 प्रतिशत), सिख (2 प्रतिशत), बौद्ध (0.7 प्रतिशत), जैन (0.4 प्रतिशत), पारसी (0.3 प्रतिशत), तथा यहूदी (0.1 प्रतिशत)। जनजातियां 6.9 प्रतिशत हैं जिनमें से कई के हिंदुओं के साथ घनिष्ठ सहज संबंध हैं, अनेक बड़े समूह ईसाई धर्म में धर्मान्तरित हो गए हैं और कुछ ने इस्लाम धर्म अपना लिया है। अधिकतर जनजातियों ने अपनी जनजातीय पहचान कायम रखी है। अनेक जनजातीय समूहों का हिंदू समाज में विलय हो गया है; कई अहिंदू समुदायों में उनके हिंदू अतीत के चिह्न साफ दिखायी पड़ते हैं। हर मुख्य धर्म धार्मिक सिद्धांतों, संप्रदायों और पंथों के आधार पर उपविभाजित है। यह बात सभी देशी धर्मों—हिंदू, सिख, बौद्ध तथा जैन—तथा बाहर से यहां लाये गए धर्मों—विशेषकर इस्लाम और ईसाई धर्म—दोनों पर लागू होती है। हिंदू अब मोटे तौर पर शैव (शिव उपासक), वैष्णव (विष्णु और उनके अवतारों के उपासक), शाक्त (मातृदेवी के विविध रूपों के उपासक), और स्मार्त (जो इन तीनों—शिव, विष्णु और मातृदेवी—की उपासना करते हैं) में विभाजित हैं। इनमें भी सैद्धांतिक भेदों और कर्मकांडों के विवरणों के आधार पर उपविभाग हैं। संप्रदाय और पंथ के कारण हिंदू धर्म की जटिलता बढ़ गयी है। कुछ ही उदाहरण लें तो क्या कबीरपंथी, सतनामी और लिंगायत अलग धर्म हैं जैसाकि दावा किया जाता है ? या वे हिंदू धर्म के ढांचे के भीतर ही जाति जैसे संगठन हैं जो कि व्यवहारतः वे हैं भी। एक बार ब्राह्म समाज और आर्य समाज ने अलग होने का दावा किया था, लेकिन अब उन्हें हिंदू धर्म का ही रूपभेद माना जाता है। परवर्ती संप्रदाय जैसे राधास्वामी, प्रणामी, और स्वामी नारायणी भी जाति प्रथा के पालन की अनुमति देते हैं जैसाकि पहले कबीरपंथी और आर्य समाज ने किया था। पंथों की गुह्य मान्यताएं और व्यवहार होते हैं और वे प्रायः किसी व्यक्ति विशेष या उनके परिवारों तक सीमित होते हैं। वे पूरी जाति को शामिल नहीं करते। उनका

समुदाय छोटा और गोपनीय होता है। अघोरपंथ, कश्मीर के शैववाद तथा कई तांत्रिक संप्रदायों को पंथों का उदाहरण माना जा सकता है। हिंदू धर्म यदि इन्हें प्रोत्साहित नहीं करता तो इनके प्रति असहिष्णु भी नहीं है।

भारतीय मुसलमान मोटे तौर पर सुन्नी और शिया समुदायों में विभक्त हैं; इन दोनों में शिया वर्ग छोटा है लेकिन इतना बड़ा तो है ही कि ईरान से बाहर यह सबसे बड़ा शिया समूह है। सुन्नी मुस्लिम कानून की चार शाखाओं में भारतीय सुन्नियों की बड़ी संख्या हनीफी कानून को मानती है। दक्षिण में विशेषकर मप्पिलाओं और लक्षद्वीपवासियों में शफी की हिदायतें मानी जाती हैं। गुजरात के सुन्नी मलिकी शाखा को मानते हैं लेकिन चौथे—हन्बली—के अनुयायी भारत में नहीं है। शियाओं का अपना इमामी कानून है। वे फिर बारह इमामों के अनुयायियों और सात इमामों के अनुयायियों में उपविभाजित हैं। इसके अतिरिक्त चौदह धार्मिक संप्रदाय हैं जिनमें चिश्ती संप्रदाय, सुहरावर्दी संप्रदाय, शत्तारी, कादिरी तथा नक्सबंदी संप्रदाय महत्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अनियमित संप्रदाय भी हैं।

भारतीय ईसाई रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेंट में तथा अनेक पंथीय चर्चों में विभाजित हैं। भारत में प्रारंभिक ईसाई धर्म की कुछ विशेषताओं का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उनमें जाति जैसी संरचनाओं की उपस्थिति पर चर्चा अध्याय तीन में की जायेगी।

यद्यपि सिख धर्म एक समन्वयकारी धर्म है जो समतावाद पर बल देता है लेकिन वह भी 'जाति' प्रथा के कुछ कम हितकारी पक्षों को खत्म नहीं कर पाया है। उदाहरणार्थ, सिख धर्म अपनाने वाली निम्न जातियां मजहबी कहलाती हैं; वे अलग पुरवों में रहती हैं। उनके गांवों और निकटवर्ती गांवों में उन्हें 'सरदार' कहकर संबोधित नहीं किया जाता जबकि यह एक सामान्य सम्मानसूचक उपाधि है। लेकिन गुरुद्वारा (सिख मंदिर) में वे सबके साथ प्रार्थना करते हैं और 'लंगर' (गुरुद्वारा परिसर में सबको भोजन कराने की व्यवस्था) में शामिल होते हैं। उनके स्पर्श को अपवित्र नहीं माना जाता। सिख इतिहास के प्रमुख लेखक खुशवंत सिंह स्वयं सिख हैं। उनके अनुसार सिख समुदाय के भीतर समानता का अर्थ पारंपरिक जातिगत आधार को तोड़कर विवाह करना कभी नहीं रहा है। जाट, क्षत्रिय, ब्राह्मण और शिल्पकार जातियों की अपनी-अपनी अलग पहचान कायम है और वे अब भी अंतर्विवाही हैं, अर्थात सामान्यतः वे अपनी लड़कियों का विवाह अपनी जाति से बाहर नहीं करते। लिंग असंतुलन के कारण, उच्चतर जातियों द्वारा निम्नतर जातियों की कन्याएं स्वीकार की जा सकती हैं किंतु उनकी अपनी लड़कियां

निम्नतर जाति के पुरुषों को नहीं दी जातीं।

भारत में एक समय बौद्ध धर्म का व्यापक प्रसार हुआ था किंतु वैदिक हिंदू धर्म के पुनरुत्थान के साथ अपनी जन्मभूमि में इसकी पकड़ खत्म हो गयी और यह केवल कुछ स्थानों में ही सीमित रह गया। डा. अंबेडकर ने इसे पुनरुज्जीवित किया यद्यपि उनके अनुयायी, जिनमें से अधिकतर महार जाति के थे, अपनी स्थिति सुधारने की दिशा में अधिक कुछ नहीं कर पाये। इन्हें नव बौद्ध कहा जाता है। नव बौद्धों की जातियां छिपी नहीं हैं। भारत में बौद्ध धर्म पारंपरिक चार स्तरों में बंटे वर्णविभाजन की तरह न होकर द्विस्तरीय संरचना है। ऊपरी स्तर पर ब्राह्मण और गृहपतियों की कुछ श्रेणियां स्थापित हैं और निचले स्तर में जनजातियां तथा अन्य सीमांत समूह हैं। बौद्ध धर्म का महायान और हीनयान में विभाजन सैद्धांतिक मतभेदों पर आधारित था परंतु यह विभाजन समाज में पदक्रम का प्रतिनिधित्व नहीं करता।

एक समय जैन धर्म का भी भारत में बहुत प्रभाव था। संख्या में कम होने के बावजूद जैन धर्म के अनुयायी उत्तर और दक्षिण भारत में हर जगह है। इनके दो मुख्य वर्ग हैं–दिगम्बर (वस्त्रहीन) तथा श्वेताम्बर (श्वेत वस्त्रधारी)। आधुनिक जैन समाजशास्त्री सांगवे के अनुसार जैन समुदाय में मुक्त जाति व्यवस्था है; लोग अपनी रुचि के अनुसार एक वर्ग से दूसरे वर्ग में आ-जा सकते हैं। उनमें अस्पृश्यता भी व्यवहार में नहीं है तथा अंतरभोज की अनुमति है। लेकिन जैनों में अंतर्विवाही जातियां हैं। 1314 के एक दस्तावेज में जैन समुदाय की एक शाखा की 87 जातियों का उल्लेख है; इनमें से 41 की जनसंख्या 500 से भी कम थी। हाल में किए गए (1953) एक अध्ययन का आकलन है कि जैन धर्म के अनुयायियों में लगभग 60 अंतर्विवाही समूह हैं और इन समूहों की जनसंख्या प्रति समूह सौ से भी कम है।

पारसी समुदाय छोटा है लेकिन भारत के औद्योगिक विकास में उसने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। वे सर्वप्रथम आठवीं शताब्दी में फारस से भारत आये। प्राणदंड से बचने के लिए उन्होंने भारत में शरण ली थी। कहा जाता है कि भारत के पश्चिमी तट पर उनके आगमन पर उनके नेताओं की स्थानीय शासक तथा प्रमुख नागरिकों के साथ बैठक हुई थी। अपनी बातचीत के दौरान पारसी समुदाय के नेता ने अपने मेजबानों से एक गिलास दूध और थोड़ी चीनी लाने को कहा। दूध और चीनी लायी गयी। उन्होंने दूध में चीनी घोल दी। माना जाता है कि इसके बाद उन्होंने कहा था ''जैसे चीनी दूध में घुल जाती है और उसे मिठास

देती है उसी तरह हम भी आपके समाज में घुल-मिल जायेंगे और इसका परिणाम मधुर होगा।" वास्तव में ऐसा ही हुआ। भारत को उनका योगदान उनकी जनसंख्या के अनुपात में बहुत ज्यादा है। अपने धार्मिक कर्मकांडों के अतिरिक्त शेष सभी बातों में उन्होंने अपने क्षेत्र के व्यापारी समुदाय की जीवनशैलियां अपना ली हैं। आनुवंशिक पुरोहित अपने समुदाय में ही विवाह करते हैं। अठारहवीं शताब्दी में जब उन्होंने अन्य गैर-पुरोहित पारसियों के साथ विवाह के प्रयास किए तो उसका वहुत विरोध हुआ।

भारत में ईसाई और पारसी की तरह यहूदी धर्म की स्थापना हुए एक शताब्दी से अधिक समय हो गया। छोटी यहूदी जनसंख्या मुख्य रूप से दो स्थानों पर केंद्रित थी—एक कोचीन या कोच्ची (केरल में) और दूसरा महाराष्ट्र। सत्रहवीं शताब्दी में कोचीन के यहूदियों की संख्या लगभग 2,200 ही थी लेकिन उन्हें अनेक सुविधाएं प्राप्त थीं जैसे वे हाथी और पालकी की सवारी कर सकते थे, वे राजछत्र की छाया में सड़कों पर निकल सकते थे। उस समय उनके आगे-आगे नगाड़े और तुरहियां बजती थीं। उनके जुलूस के आगे उनके आगमन की घोषणा करने वाले चलते जो नीची जाति के लोगों को उनके रास्ते से दूर रहने के लिए कहते थे। 1570 में एक यात्री के विवरण में यूरोप, उत्तरी अफ्रीका और मध्य पूर्व से आये आप्रवासियों के वंशजों के सेफार्डिक समुदाय का उल्लेख है। वे श्वेत यहूदी कहलाते थे यद्यपि उनमें से कुछ काफी श्याम वर्ण के थे। दूसरे काले यहूदी थे। श्वेत यहूदी काले यहूदियों के साथ विवाह नहीं करते थे न ही उनके साथ भोजन करते थे। महाराष्ट्र में यहूदियों की संख्या अधिक है। वहां लगभग 14000 यहूदी हैं। अब उन्हें बेने इजरायल कहते हैं लेकिन शताब्दियों तक कोंकण के गांवों में उन्हें शनवार तेली—तेल पेरने वाले वे तेली जो शनिवार को काम नहीं करते—कहा जाता था क्योंकि तेल की पिराई उनका प्रमुख व्यवसाय था। उनके साथ हिंदू तेलियों जैसा व्यवहार किया जाता था। लेकिन एक अंतर था। यद्यपि वे हिब्रू नहीं जानते थे और यहूदी धर्मग्रंथों के कानून के बारे में भी उनकी जानकारी नगण्य थी तथापि वे कुछ यहूदी खानपान संबंधी विनियमों का पालन करते थे तथा यहूदी त्योहार मनाते थे। उनके यहां भी गोरे और काले का फर्क था और उनके बीच परस्पर विवाह और अंतरभोज निषिद्ध था। लेकिन वे सभी एक ही सिनेगाग (यहूदी प्रार्थना भवन) में उपासना करते थे। बहुत से यहूदी मुंबई जाकर बस गए हैं जहां जाति जैसे प्रतिबंध बहुत कम हैं। यहूदी (जायोनिस्ट) आवेग के कारण उनमें से अनेक इजरायल चले गए हैं जहां वे अब भी मलयालम और मराठी

पुस्तकें तथा अपरिहार्य भारतीय मसाले आयात करते रहते हैं।

भाषा विविधता का एक और स्रोत है और उसका योगदान सामूहिक पहचान और संघर्ष दोनों में है। भारतीय संविधान की सूची में पंद्रह भाषाएं हैं लेकिन यह सरकारी उद्देश्य के लिए बनायी गयी सरकारी सूची है। साहित्य अकादमी द्वारा दिए जाने वाले साहित्यिक पुरस्कारों के लिए भी यह सूची बेकार रही है। साहित्य अकादमी को डोगरी, अंग्रेजी, कोंकणी, मैथिली, मणिपुरी, नेपाली और राजस्थानी को भी अलग-अलग साहित्य भाषाओं के रूप मे मान्यता देनी पड़ी थी। वास्तव में, सभी प्रमुख भाषाओं के क्षेत्रीय और बोली प्रभेद हैं। उदाहरण के लिए हिंदी की छतरी के नीचे अवधी, बघेली, भोजपुरी, ब्रज, बुदेली, छत्तीसगढ़ी, हाड़ोती, मगही, मालवी, निमाड़ी, पहाड़ी, राजस्थानी तथा अन्य अनेक बोलियां हैं। तमिल का एक गरिमापूर्ण साहित्यिक रूप है जो अन्य क्षेत्रीय और स्थानीय रूपों से बहुत भिन्न है। ग्रंथिका तेलुगु साहित्य और कक्षा में पढ़ाये जाने वाले पाठ तक सीमित है; अन्य स्थितियों में व्यावहारिक तेलुगु का इस्तेमाल होता है। 227 मातृभाषाओं को मानने पर स्थिति और जटिल तथा गड्डमड्ड हो जाती है। इससे भाषा नियोजन और संवर्धन का काम कठिन हो जाता है। लेकिन मातृभाषा प्रबल भावनाएं और प्रतिक्रियाएं जगाती है। जनजातीय भाषाओं को बोली के रूप में खारिज नहीं किया जा सकता। इनमें से अनेक में विकासमान साहित्य है और इनमें से कम से कम एक ने लिपि भी तैयार कर ली है। इनकी बहुलता कई स्थितियों में भ्रमित करने वाली है, विशेषकर जनसंचार और शिक्षागत संप्रेषण में। इस दृष्टि से नागालैंड का उदाहरण विचारणीय है। नगालैंड पहले एक जिला था और अब एक प्रदेश है। यहां 19 भाषाएं बोली जाती हैं : अंगामी (33,766/43569), सेमा (47,439/65,227); लोथा (26,565/36,949); आओ (55,904/65,275); रेंगमा (5,786/8,578); चाखे सांग-चोकरी/चकरू (8,339); खेझा (7,295); संगताम पोचुरी (2736); संगताम (15,508/19,998); कोन्याक (46,653/72338); चांग (11,329/15,816); फोम (13,385/18,017); यिमचुंगरे (10,187/13,564); खीमनुंगम (12,434/14,414); जीलियांग-जेमी (6,472); लियांगमई (2,969); कूकी-चीरू (1,175); माकवरे (769); तथा तिखिर (2,468)। ये आंकड़े 1961 और 1971 के हैं। जहां केवल एक संख्या दी गयी है, वह 1961 की है।

इस बहुलता के परिणामस्वरूप आकाशवाणी के कोहिमा केंद्र को अपना प्रसारण 25 भाषाओं में करना पड़ता है। समाचार प्रसारण अठारह—अंग्रेजी, हिंदी, नागा पिडगिन तथा अन्य नागा—भाषाओं में होता है। सुगम संगीत का प्रसारण

सोलह नागा भाषाओं के अतिरिक्त दो अन्य भाषाओं—जिनमें समाचार प्रसारित नहीं होते—तथा अंग्रेजी, हिंदी, मलयालम, तमिल, और नेपाली में भी होता है। पिडगिन नागा क्षेत्र की जनभाषा के रूप में विकसित हो रही है। यहां द्विभाषावाद भी काफी है तथा प्रशासन को एक से अधिक भाषाओं का प्रयोग करना पड़ता है। अन्यत्र भी काफी विभ्रमकारी बहुलता है जिससे अनेक प्रशासनिक और राजनीतिक समस्याएं सामने आती हैं।

विविधता का एक अन्य स्रोत विशेष समुदायों और क्षेत्रों की सांस्कृतिक पहचान है। कुछ जातियों, पंथों और समुदायों के अपने लोकाचार होते हैं। क्षेत्र की जनसंख्या के अन्य तत्वों के साथ उनके जैविक संपर्क भी होते हैं जिससे कालांतर में एक सांस्कृतिक व्यक्तित्व विकसित होता है। सांस्कृतिक क्षेत्र कैसे बनते हैं ? ऐसे क्षेत्र में लोगों का नृजातीय मूल, भाषा, और सांस्कृतिक विशेषताएं समान हो सकती हैं। सबसे महत्वपूर्ण है उनका साझा ऐतिहासिक अनुभव, पारिस्थितिकी, और पर्यावरण। सांस्कृतिक क्षेत्रों को रूप देने मे शक्तिशाली राज्यों और साम्राज्यों तथा प्रमुख राजवंशों का भी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष योगदान रहा है। महान साम्राज्यों का एक केंद्रीय सांस्कृतिक क्षेत्र रहा है लेकिन उनका प्रभाव कुछ हलके रूप में सुदूर परिधियों तक भी व्याप्त है। उनका आधिपत्य स्वीकार करने वाले राज्यों को सांस्कृतिक दृष्टि से छेड़ा नहीं जाता था फिर भी उन पर कुछ न कुछ सांस्कृतिक प्रभाव तो पड़ता ही था। उदाहरण के लिए मौर्य और गुप्त साम्राज्य ने सास्कृतिक तथा सामाजिक मामलों में आक्रामक रूप से हस्तक्षेप नहीं किया था; पर्याप्त विविधता विना छेड़े छोड़ दी गयी थी लेकिन क्षेत्रीय संस्कृतियों ने स्वयं केंद्रीय सांस्कृतिक क्षेत्र की कुछ सांस्कृतिक विशेषताओं को चुनकर अंगीकार कर लिया या उन्हें अपने लिए अनुकूलित कर लिया। धार्मिक विश्वासों और सिद्धांतों के मामलों में अशोक ने बहुत उत्साह दिखाया लेकिन संस्कृति के अन्य पक्षों में उसके हस्तक्षेप के साक्ष्य नहीं मिलते। कलिंग में सांस्कृतिक सुदृढ़ीकरण को खारवेलों के शासन में प्रोत्साहन मिला। उत्तर-पश्चिम में इंडो-यूनानी राजाओं ने और बाद में कुषाणों तथा हूणों ने एक क्षेत्रीय संस्कृति के उदय को प्रोत्साहन दिया। नर्मदा के दक्षिण में सातवाहन राजाओं का पर्याप्त प्रभाव था। चेरों ने केरल समाज के गठन को प्रभावित किया। दक्षिण के अन्य भागों में क्षेत्रीय संस्कृतियों के सुदृढ़ीकरण में पल्लव, पाड्य, वाकाटक, चालुक्य, चोल तथा विजयनगर राज्यों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस सूची में केवल कुछ उदाहरण दिये गये हैं। यह किसी भी अर्थ में संपूर्ण नहीं है। क्षेत्रीय संस्कृतियों के उद्‌गम की प्रक्रिया में राज्य विशेष के

विशेष योगदान का विस्तार से उल्लेख करना कठिन है। इस्लाम और ईसाई धर्म ने केवल एक अल्पतम धार्मिक अनुरूपता पर जोर दिया; उन्होंने सांस्कृतिक और सामाजिक विविधता को मोटे तौर पर यथावत रहने दिया। राष्ट्रीय आंदोलन ने भारत की एकता और अखंडता पर जोर देते हुए, समर्थन जुटाने के लिए, जातीय, भाषायी और क्षेत्रीय भावनाएं भी उभारीं। इस प्रक्रिया में क्षेत्रीय संस्कृतियों को सुदृढ़ीकरण की नयी प्रेरणा मिली।

अब हम एकता के विषय पर आयें। एकता कैसे बनी है ?

भारत के उत्तर में भव्य हिमालय है और उसका प्रायद्वीपीय हिस्सा समुद्र से घिरा है। इस भौगोलिक स्थिति के कारण भारत कम से कम आशिक रूप से तो अलग-थलग है ही। लंबी अवधियों तक यहा उत्तरी-पश्चिमी, बर्मी तथा चीनी मार्गो से कुछ लोगों के आने से अधिक कुछ नहीं हुआ। इन अवधियों में जनसंख्या उपमहाद्वीप के भीतर ही इधर-उधर आती-जाती रही जिसने इसे एकता का आभास दिया। सबसे बड़े प्राचीन सामाज्य का राज्य भी संपूर्ण महाद्वीप पर नहीं था लेकिन उन्होंने शाही प्रशासन तथा कानूनी प्रभाव का क्षेत्र विस्तार किया।

विभिन्न राज्यों के बीच युद्ध होते रहते थे। लोग शासकों के बदलने और विजयों के सास्कृतिक परिणामों के अभ्यस्त हो चुके थे। अधिकतर युद्ध क्षेत्रीय अर्थात पड़ोसी राजाओं के बीच होते थे और कुछ व्यापक क्षेत्र में। ऐसे युद्धों का उद्देश्य बड़े साम्राज्यों की स्थापना था। अशोक युद्ध में अपनी निर्दयता और बाद में अपने शांतिवाद तथा हिंसा को ठुकराने के लिए प्रसिद्ध है। उसकी चेतावनियां उसके साम्राज्य के विभिन्न भागों में शिलाओं पर उत्कीर्ण कर दी गयी थीं। संदेश आज भी मौजूद है। कई अन्य राजाओं के सैन्य अभियानों का सुस्पष्ट उल्लेख भारतीय इतिहास की पुस्तकों में मिलता है। उदाहरण के लिए समुद्रगुप्त दक्षिण में कांचीपुरम तक चला गया था। इस तथ्य की जानकारी कम है कि ग्यारहवीं शताब्दी में राजा राजेंद्र चोल अपने अभियान मे उत्तर मे गंगा तक आ गया था। विभिन्न राजवंशों के मुस्लिम शासकों ने युद्ध के जरिये अपने राज्यों का विस्तार किया और इस प्रक्रिया में एक दूसरे से युद्ध भी किया। लंबी अवधियों तक उनके नियंत्रण में रहे सीमाक्षेत्रों पर उनकी छाप बनी रही।

हिंदू धर्म भारत का प्रमुख धर्म है। उसने भारतीय संस्कृति और समाज के स्वभाव और विशिष्ट प्रकृति को प्रभावित किया है। निस्सदेह, यह कालातीत और परिवर्तनहीन नहीं है। अपने भीतर और बाहर से इस पर विरोधी प्रभाव पड़े हैं। जैन और बौद्ध धर्म का व्यापक प्रसार हुआ और उनका पर्याप्त प्रभाव था। यद्यपि

हिंदू धर्म ने जैन धर्म का प्रसार रोक दिया और उसे एक छोटी आबादी में सीमित कर दिया, तथा बौद्ध धर्म कमोबेश खत्म ही हो गया लेकिन समकालीन हिंदू धर्म पर इन दोनों धर्मों का प्रभाव दिखायी देता है। हिंदू धर्म ने भारत में ईसाई तथा इस्लाम धर्म को भी प्रभावित किया और बदले में उनसे प्रभावित भी हुआ। हिंदू धर्म का कोई एक पवित्र ग्रंथ नहीं है। यह पवित्र साहित्य के ग्रंथ संग्रह से निःसृत है। इस साहित्य पर अध्याय एक में संक्षिप्त चर्चा की गयी है। हालांकि इस साहित्य का अधिकांश भाग दार्शनिकों, भारतविदों तथा धर्म के विशेषज्ञों के एक प्रवर मंडल से बाहर के लोग, यहां तक कि पुरोहित भी, नहीं समझ पाते। गीता के कुछ पक्ष व्यापक रूप से ज्ञात हैं तथा मनु संहिता और गृह्य सूत्रों की पुरोहितों द्वारा की गयी व्याख्या का स्थानीय भिन्नताओं के साथ अनुसरण किया जाता है। जिस हिंदू धर्म का पालन किया जाता है वह शास्त्रीय हिंदू धर्म नहीं बल्कि लोकप्रिय हिंदू धर्म है जो मिथकों, अनुश्रुतियों, तथा सरलता से समझ में आने वाली पुस्तकों से निकला है।

दो महान महाकाव्य—रामायण तथा महाभारत—व्यापक रूप से प्रसिद्ध हैं, लेकिन उनका सस्कृत का मूल पाठ बहुत प्रचलित नहीं है। इनके अनेक लोक और क्षेत्रीय भाषा रूपांतरण हैं। संस्कृत में वाल्मीकि की रामायण से अधिक जिन गौरवग्रंथो के जरिये भारतीयों के एक बड़े वर्ग मे रामकथा रच-बस गयी है वे भारतीय भाषाओ में तुलसीदास (अवधी/हिंदी), कम्बन (तमिल), पोन्ना (कनड़), आदि कवियों द्वारा उनकी अपनी-अपनी भाषाओं में लिखे गये हैं। व्यास रचित महाभारत की कथा भी अनेक कवियों ने कुछ क्षेत्रीय भाषाओं में पुनर्वर्णित की है। कन्नड़ के महाकवि पम्पा ने 'पम्पा भारत' नाम से लोकप्रिय अपनी कृति 'विक्रमार्जुन विजय' में इस कथा के संताप और हर्षोन्माद, प्रेम और घृणा, लालच और मानवीयता तथा अहम के टकरावों और दार्शनिक प्रतिक्रिया की पुनर्रचना की है। महान कन्नड़ कवियों की त्रयी में से अंतिम कवि 'रन्ना' ने अपनी कृति 'साहस भीम विजय' में भी यही विषय लिया है। 'साहस भीम विजय' 'गदा युद्ध' नाम से अधिक जानी जाती है। ये रचनाएं वाल्मीकि और व्यास का बेरंग, फीका अनुकरण मात्र नहीं हैं। उनसे इन कवियो ने केवल कथा की रूपरेखा ली है लेकिन इस कथा का निरूपण उन्होंने अलग-अलग ढंग से किया है और अपनी-अपनी काव्यात्मक संवेदना से उसे समृद्ध किया है। तुलसीदास, कम्बन और पोन्ना तीनों ने राम का चित्रण अलग-अलग ढंग से किया है और अपनी काव्यात्मक प्रतिभा के कारण इन तीनों का अपना स्थान है। पम्पा ने महाभारत की अपनी पुनर्रचना में अर्जुन को

मुख्य चरित्र बनाया है जबकि रन्ना की प्रस्तुति में भीम की शक्ति का उत्सव है। इन कवियों की कृतियों की नैतिक और दार्शनिक अर्थछायाओं में सूक्ष्म विरोध है। इसी तरह उनके प्रतीक और उनकी व्याख्या में भी सूक्ष्म अंतर है। सामान्य जन के लिए इनमें से प्रत्येक में दैवी अंश है। उनकी रचनाएं पवित्र मानी जाती हैं। यहां यह भी बताया जा सकता है कि पम्पा तथा पोन्ना जैन धर्म के अनुयायी थे, और पोन्ना चूड़ियां बेचने का काम करते थे।

उत्तर भारत में रामलीला और रासलीला राम और कृष्ण कथाओं की लोक मुहावरे में पुनर्रचना करती हैं। कर्नाटक में यक्षगान तथा केरल में कथकली भी धार्मिक विषय लेते हैं। वस्तुतः रामायण और महाभारत, विशेषकर कृष्ण कथा, के प्रसंग ही भारत के शास्त्रीय नृत्य के अधिकतर रूपों जैसे भरत नाट्यम, कुचीपुड़ी, मोहिनी अट्टम, कथकली, ओडीसी, मणिपुरी तथा कथक के भक्ति रूप की प्रेरणा बने हैं। शताब्दियों के दौरान इन कृतियों के नायक भारत की सभी भाषाओं के गीतों और काव्य में अमर हो गए हैं। इससे हिंदू परंपरा को एकता और निरंतरता मिली है। संत कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा धर्म को लोकप्रिय बनाया और उन्हें जनता तक पहुंचाया। इन प्रयासों का भारत की एकता में महत्वपूर्ण योगदान रहा।

भक्ति काव्य के भिन्न संप्रदायों के योगदान पर ध्यान दिए बिना लोकप्रिय हिंदू धर्म पर विचार करना कठिन है। हिंदू धर्म की छवियां, उसकी विषयवस्तु उसके मूल्य संत कवियों की रचनाओं से ही निःसृत हैं। हिंदीभाषी भागों में तुलसीदास की रामचरित मानस—रामायण—तथा अन्य रचनाओं, सूरदास के पदों, कबीर की साखियों और मीरा के भजनों ने हिंदू धार्मिक रुझान को रूपायित किया है। कई अन्य संतकवि भी हैं जिनका योगदान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। यहां यह उल्लेखनीय है कि कबीर के अतिरिक्त रहीम और रसखान जैसे मुसलमान कवियों ने भी हिंदी की बोलियों में हिंदू भक्ति काव्य की रचना की। अन्य भारतीय भाषाओं में भी अनेक महान संत कवि हुए हैं जिन्होंने हिंदू धर्म और दर्शन को समृद्ध किया, परंपरा की पुनर्व्याख्या की और सुधारों की गति निर्धारित की। इस संदर्भ में तुकाराम के अभंगों (मराठी), बासव के वचनों (कन्नड़) तथा त्यागराज की कृतियों (तमिल) का भारतीय परंपरा के महत्वपूर्ण अंग के रूप में अपना अलग स्थान है। ज्ञानेश्वर ने गीता की मराठी में पुनर्व्याख्या की, चैतन्य ने बंगाल मे कीर्तन परंपरा को (भक्ति गीतों का सामूहिक गायन) सुदृढ़ किया, नरसी मेहता ने गुजराती में भक्ति गीतों (भजनों) की रचना की और कनक तथा पुरन्दर दास कन्नड़ के भक्त कवियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। सूची अनंत है। हम अंतिम

अध्याय में कुछ अन्य कवियों की चर्चा करेंगे लेकिन यहां दो नामों का उल्लेख करना आवश्यक है क्योंकि वे एक व्यापक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं और उन्होंने एक साहसपूर्ण समन्वय का प्रयास किया है। श्री शंकरदेव की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। उन्होंने असम को एक नया सांस्कृतिक व्यक्तित्व दिया लेकिन उन्होंने भारत अर्थात भारतवर्ष की एक वृहदाकार छवि सदैव अपने सामने रखी। उन्होंने दूर-दूर तक भारत के अन्य कृष्ण भक्ति केंद्रों की भी यात्रा की और अन्य कवियों, दार्शनिकों, तथा संतों के कृतित्व का गहन ज्ञान प्राप्त किया। इसकी झलक उनके अपने कृतित्व में मिलती है। गुरु नानक देव के पदचिह्नों की छाप देश के कई भागों मे है। उन्होंने अन्य संतों के कृतित्व और दर्शन का परिचय प्राप्त किया। समन्वय के उनके उत्कृष्ट प्रयास में उनकी अपनी रचनाओं के अतिरिक्त संत कवियों की चुनी हुई रचनाएं भी शामिल हैं। कीर्तन (भक्ति गीतों का सामूहिक गायन) पूरे भारत में लोकप्रिय है। क़ीर्तन की परंपरा बंगाल, असम और महाराष्ट्र में विशेष रूप से मजबूत है। भक्ति गायन की एक और शैली 'कव्वाली' मुख्यतः इस्लाम से प्रेरित है लेकिन इसमें गैर-मुस्लिम रहस्यवादियों और संतों की रचनाएं भी शामिल हैं। भक्ति कवियों और भक्ति संगीत की रचनाओं में अद्भुत विषयगत समानता है।

भारतीय चिंतन का ताना-बाना उत्तर और दक्षिण भारत का समान रूप से ऋणी है। हिंदू धर्म के अधिकतर धर्मग्रंथों का मूल उत्तर भारत है लेकिन उनके दर्शन का परिष्कार दक्षिण के चिंतकों ने किया। हिंदू दर्शन को संरचनात्मक आधार वेदांत की तीन प्रणालियों ने प्रदान किये। इनमें से प्रत्येक के प्रवर्तक का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था। अद्वैतवाद (एकेश्वरवाद) के संस्थापक शकर (788 ई.) केरल के थे; विशिष्टाद्वैत दर्शन के संस्थापक रामानुज (1017 ई.) तमिलनाडु से थे; और द्वैत (द्विवाद) का दर्शन प्रतिपादित करने वाले माधव (1238 ई.) कर्नाटक के थे।

हिंदू समाज में यदि असहमति, विरोध और सुधार की परंपरा नहीं होती तो वह टूट कर अंततः विखंडित हो गया होता। इन परंपराओं ने सुरक्षा कपाटों का काम किया और समाज में वे अनुकूलन लाने का माध्यम बनीं जिनके चलते समाज एक बना रहा।

भारत की सांस्कृतिक एकता में भारत के सांस्कृतिक भूगोल का भी योगदान रहा है। उत्तर में हिमालय को देवताओं का आवास माना जाता है। सच्चे ज्ञान की खोज में असंख्य मनीषियों ने यहां तपस्या की है।

तीर्थयात्रा के चार महान हिंदू धार्मिक केंद्र चार भिन्न दिशाओं में स्थित हैं—बदरीनाथ उत्तर में (उत्तरांचल), पुरी पूर्व में (उड़ीसा), द्वारका पश्चिम में (गुजरात), तथा रामेश्वरम दक्षिण में (तमिलनाडु)। शक्ति संप्रदाय की संभवतः सबसे महत्वपूर्ण कामाख्या पीठ असम में है। अन्य पवित्र केंद्र, जिनकी सूची बहुत लंबी है, पूरे देश में फैले हैं। इनमें से हरिद्वार, प्रयाग (इलाहाबाद), तथा वाराणसी उत्तर प्रदेश में, बिहार में गया, जम्मू-कश्मीर में अमरनाथ तथा वैष्णो देवी, राजस्थान में पुष्कर, मध्यप्रदेश में उज्जैन और ओंकारेश्वर, महाराष्ट्र में नासिक और पंढरपुर, आंध्रप्रदेश में तिरुपति, तमिलनाडु में मदुराई, तंजवूर के मंदिर नगर, तथा कन्या कुमारी और केरल में गुरुवयूर अधिक महत्वपूर्ण हैं। संपूर्ण भारत से तीर्थयात्री यहां आते हैं।

अनेक नदियों विशेषकर गंगा, यमुना नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी को भी पवित्र माना गया है। इनके तटों पर अनेक छोटे-बड़े पवित्र केंद्र स्थित हैं।

बौद्ध चैत्य तथा स्मारक भी देश के अनेक भागों में हैं—बिहार में राजगीर तथा बोध गया; उत्तरप्रदेश में सारनाथ, मध्यप्रदेश में सांची तथा विदिशा। अशोक के लेख देश के विभिन्न हिस्सों में शिलाओ पर अंकित हैं, ये शिलालेख दक्षिण मे भी है। लद्दाख, हिमाचलप्रदेश, उत्तरांचल, अरुणाचलप्रदेश तथा अन्यत्र अनेक बौद्ध विहार हैं। भारत के विभिन्न भागों में हजारों जैन मंदिर तथा पावन स्थल हैं। अप्रतिम सौंदर्य से परिपूर्ण स्मारकों की एक शृंखला है। कर्नाटक में श्रावणबेला गोला में गोमतेश्वर की महान जैन मूर्ति अपनी कारीगरी के साथ-साथ अपने आकार से ही विस्मय और भक्ति की भावना जगाती है।

पत्थर काट कर बनायी गयी गुफाओं में भारतीय कला और सांस्कृतिक विरासत के अनेक चरण सुरक्षित हैं। इनमें महाराष्ट्र के मराठवाड़ा क्षेत्र मे स्थित अजंता और एलोरा, कर्नाटक में बादामी, तथा महाराष्ट्र में ही एलिफैंटा अधिक महत्वपूर्ण हैं। इन गुफाओं में चित्रों, मूर्तियों और पाषाण चित्रों का यथार्थतः एक ऐसा खजाना है जिस पर कोई भी देश गर्व कर सकता है।

इस्लामी मस्जिदें, स्मारक और मजारें/दरगाहें देश भर में देखी जा सकती हैं। इनमें से कई की अपने विशिष्ट वास्तुशिल्प के लिए अलग ही पहचान है। ताजमहल, जिसकी सुंदरता अभिभूत कर देने वाली है, भारत की बहुमूल्य विरासत का अंग है। अनेक स्मारक हिंदू और मुसलमान शैलियों के एकीकरण का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे वास्तुकला में साहसपूर्ण और नये प्रस्थान बिंदुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत में अनेक गिरजाघर हैं जिनकी परिकल्पना विशाल पैमाने पर की गयी। सिख उपासनास्थल—गुरुद्वारा—अपने ढंग के अलग ही नजर

आते हैं जिनमें हिंदू और मुसलमान वास्तुकला के तत्व विद्यमान हैं लेकिन उनकी अपनी एक विशिष्ट प्रकृति है। अमृतसर इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण है लेकिन देश के अन्य भागों में ऐसे कई अन्य गुरुद्वारे हैं जो ध्यान आकृष्ट करते हैं। यहां यह स्मरणीय है कि सिख गुरुद्वारे सबके लिए खुले हैं चाहे किसी का कोई भी धर्म या विश्वास हो और बडी संख्या में गैर-सिख भी वहां जाते हैं।

भारतीय शास्त्रीय संगीत देश की सांस्कृतिक एकता का एक और फलक प्रस्तुत करता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत का मूल सामवेद में है जिसे वस्तुतः एक उपवेद माना जाता है। इसकी उत्पत्ति और विकास प्राचीन गंधर्वो से मानी जाती है जिन्होंने इस कला को संस्कारित करने में अपने को समर्पित किया और उसे आनंद और देवत्व की उदात्त ऊंचाइयों तक ले गये। मिथकों को छोड़ दें तो भी भारतीय संगीत ने लोक रूपों से बहुत कुछ ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए उत्तर भारतीय—हिंदुस्तानी—शास्त्रीय संगीत के भूपाली, अहीर भैरव और सारंग जैसे रागों की उत्पत्ति असंदिग्ध रूप से लोक संगीत से हुई है, यद्यपि कालांतर में विशेषज्ञों ने उन्हे परिष्कृत किया और निखारा। उपशास्त्रीय संगीत—चैती, होरी, कजरी, रसिया, ठुमरी आदि—का भी आधार लोक संगीत ही है। इस संगीत परंपरा का विकास भारत की मिली-जुली संस्कृति का वास्तविक प्रतिनिधित्व करता है क्योंकि संगीतज्ञो के हिंदू और मुस्लिम दोनों घरानों ने उसकी शैलीगत विविधता और समृद्धि में अपना योगदान दिया है। संगीत की उपसंस्कृति धर्म की बाधाएं नहीं मानती। हिंदू और मुस्लिम दोनों शासकों ने उसे अपना संरक्षण दिया।

संगीत की उत्तर और दक्षिण भारतीय शैलियों के बीच काफी समानता है। अनेक राग दोनों शैलियों में हैं। भारतीय शास्त्रीय संगीत की कर्नाटक—दक्षिण भारतीय—शाखा के संस्थापक विद्यारण्य माने जाते हैं। विद्यारण्य को इस बात के लिए भी याद किया जाता है कि उन्होंने हुक्का और बुक्का दो भाइयों को विजयनगर साम्राज्य की स्थापना करने के लिए प्रेरित किया था। 250 वर्षो तक चला यह साम्राज्य कर्नाटक संगीत के पुष्पित-पल्लवित होने का साक्षी रहा। विजयनगर साम्राज्य की अवनति के बाद संगीत की इस शैली को तमिलनाडु और केरल में संरक्षण मिला। वाद में कर्नाटक में हैदर अली, टीपू सुल्तान और उनके बाद वोडेयार शासकों ने पुनः कर्नाटक शैली को अपना संरक्षण दिया। यहां यह उल्लेखनीय है कि दक्षिण ने हिंदुस्तानी संगीत के भी कुछ मूर्धन्य कलाकारों को जन्म दिया जैसे मल्लिकार्जुन मंसूर, गंगूबाई हंगल, बासवराजा राजगुरु आदि और यह कि संगीत क्षेत्रों और राज्यों की सीमाओ को पार कर गया है।

एकता का सूत्र अतीत और वर्तमान को तो जोड़ता ही है, यह सूत्र जातीय और सांस्कृतिक विविधता का प्रतिनिधित्व करने वाले विविध भागों को भी जोड़ता है। यह अत्यंत अनपेक्षित जगहों पर भी दिखाई देता है। उदाहरण के लिए अरुणाचलप्रदेश जैसे सुदूरस्थ राज्य में भी अखिल भारतीय परंपरा के कुछ महत्वपूर्ण चिह्न मौजूद हैं और यह भारत के पवित्र भूगोल में शामिल है। अरुणाचल-प्रदेश में ब्रह्मपुत्र निर्मित एक झील है जिसे परशुराम कुंड कहते है। विश्वास किया जाता है कि मकर संक्रांति के दिन (जनवरी में) इसमें डुबकी लगाने से स्नान करने वाले के सारे पाप धुल जाते हैं। मलिनिथन कस्बा चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी के अपने ग्रेनाइट शिल्प के लिए प्रसिद्ध है। यहां के उल्लेखनीय शिल्प हैं—अपने हाथी ऐरावत पर बैठे इंद्र, अपने रथ पर सवार सूर्य, तथा शिव का नंदी बैल। भीष्मक नगर में—जिसका नाम इस राज्य के संस्थापक भीष्मक के नाम पर पड़ा, और यह मान्यता है कि भीष्मक की पुत्री का विवाह कृष्ण से हुआ था—एक राजसी किला है तथा एक प्राचीन नगर के खंडहर हैं। दस हजार फुट की ऊंचाई पर स्थित तवांग का बौद्ध विहार बौद्ध धार्मिक साहित्य, कला और संस्कृति का खजाना है।

पारंपरिक हिंदू समाज की संरचना की कुछ व्यापक विशेषताएं हैं जो पूरे भारत में एक समान हैं। वस्तुतः उनका प्रभाव उन समुदायों पर भी देखा जा सकता है जो अन्य धर्मो के अनुयायी हैं।

अब हम इन विशेषताओं में से कुछ पर नजर डालें।

प्रथम, पारंपरिक हिंदू समाज जन्मना प्रस्थिति में विश्वास करता रहा है। सरल शब्दों में, हिंदू समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति किसी जाति में जन्म लेने के संयोग से निर्धारित होती है, उसके कर्मो से नहीं। अर्जित प्रस्थिति के उदाहरण मिलते हैं किंतु उच्चतर स्तरों की ओर गतिशीलता कठिन और धीमी रही है तथा यह स्थिति अब भी हमारे साथ है।

द्वितीय, हिंदू समाज सोपानबद्ध था। इसकी बुनियादी श्रेणियां थीं ऊर्ध्वाधर रूप से व्यवस्थित वर्ण। पांचवी श्रेणी वर्ण व्यवस्था से बाहर थी। इनमें से प्रत्येक श्रेणी में अनेक जातियां पहले भी थीं और आज भी हैं। ये जातियां भिन्न सोपानों में स्थापित थीं। जातियों की सापेक्ष स्थिति के बारे में मतभेद हो सकते हैं लेकिन उनकी आधारभूत प्रस्थिति का स्तर सुनिर्धारित था।

तृतीय, प्रस्थिति मूल्यांकन का मानदंड आर्थिक या राजनीतिक नहीं बल्कि मुख्यतः आनुष्ठानिक था। समान आनुष्ठानिक प्रस्थिति वाले लोगों के साथ ही—

निम्नतर समूहों के साथ नहीं—घनिष्ठ संपर्क स्थापित किया जा सकता था जिसमे स्पर्श तथा साथ-साथ भोजन करना (सहभोज) शामिल है। निम्नतर समूहों के साथ शारीरिक संपर्क अथवा भोजन से अशुचिता अथवा अशुद्धि होगी। पवित्रता बनाए रखने तथा अशुचिता से बचने के लिए विस्तृत नियम हैं।

चतुर्थ, पुरुषार्थों अर्थात् जीवन के लक्ष्यों की अवधारणा थी। ये पुरुषार्थ हैं : धर्म (धर्मपरायणता/नैतिकता/सदाचार का पथ/व्यक्ति तथा जाति के कर्तव्य), अर्थ (संपत्ति और कल्याण की कामना), काम (दैहिक कामनाओं विशेषकर यौन सुख की प्राप्ति) तथा मोक्ष।

पंचम, जीवन के इन चार लक्ष्यों से संबधित जीवन के चार आश्रम (अवस्थाएं) थे। ये थे ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी जीवन),ग्राहस्थ्य (गृहस्थ जीवन जिसमें संपत्ति अर्जित करना, यौनेच्छाओं की पूर्ति, तथा संतान प्राप्ति शामिल है), वानप्रस्थ (संन्यासी जीवन/शनैः शनैः विराग) तथा संन्यास (परिवार तथा लौकिक चिंताओं से मुक्ति)। अंतिम (संन्यास) केवल द्विज जातियों या तीन उच्च वर्गों पर लागू होता है। यह शूद्रों के लिए नहीं है।

छठा,.पारंपरिक हिंदू धर्म में ऋण (कर्ज, दायित्वों) की धारणा है। व्यक्ति देवताओं, ऋषियों, पुरखों और समाज का ऋणी होता है। ऋणों की अदायगी भी धर्म का अंग है।

अंतिम, कर्म का सिद्धांत हिंदू धर्म का आधार बना रहता है। इस अवधारणा को परिभाषित करना अत्यधिक कठिन है। सामान्य व्यक्ति के लिए इसका अर्थ है कि उसके पूर्वजन्मों के कर्म उसके वर्तमान जीवन को प्रभावित करते हैं और वर्तमान जीवन के कर्म भावी जीवनों की रूपरेखा निश्चित करेंगे। कर्म की धारणा में पुनर्जन्म का विचार समाहित है।

ये भारत की बहुसंख्य जनता के सामाजिक ढांचे के विचारधारात्मक आधार हैं। लेकिन ये विशेषताएं परंपरा और ग्रंथों के अनुसार हैं, इनका सामाजिक यथार्थ से संबंध होना आवश्यक नहीं। बदलते हुए समय के साथ इनमें पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। लेकिन इनका भावनात्मक आग्रह जबरदस्त है। अनेक हिंदू यह विश्वास करना चाहते हैं कि ये विशेषताएं आज भी कायम है। अपनी-अपनी असहमति के बावजूद बौद्ध, जैन और सिख धर्म वास्तविक व्यवहार में इन विशेपताओं को छोड़ नहीं पाये हैं। इसमें अंतर्निहित विश्व दृष्टि को वे लोग भी पूरी तरह खारिज नहीं कर पाये हैं जिन्होंने बाद में इस्लाम या ईसाई धर्म अंगीकार कर लिया था। धर्मांतरण कर लेने मात्र से उन विश्वासों को त्यागा नहीं जा सकता जिनकी जड़ें

गहरी जमी हैं। प्रारंभ में इस्लाम और ईसाई दोनों धर्मो को तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल बनना पड़ा था क्योंकि धर्मातरितों को जीविका का साधन और अपने समुदाय का अल्पतम समर्थन चाहिए था। वे अपने जातिगत व्यवसायों में लगे रहे और जजमानी संबंधों के लिए अपने हिंदू पड़ोसियों की ओर झुकते रहे। जजमानी संबंध एक प्रकार के परस्पर निर्भरता के संबंध हैं जिनमें वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय होता है। ग्राम समुदाय उन्हें उनकी आवश्यकतानुसार ये सेवाएं प्रदान करता था। मुसलमान और ईसाई अपने क्षेत्रों (जिनमें वे रहते थे) की क्षेत्रीय संस्कृति की अनेक विशेषताओं के साझीदार रहे हैं। हिंदुओं ने भी चुन कर उनकी कुछ विशेषताएं अपना ली थीं। कला और वास्तुकला, परिधान तथा खान-पान, साहित्य, संगीत और नृत्य, औषध तथा तकनीक में शैलियों का विलयन हुआ और नए रूप सामने आये जो उनके संयुक्त प्रयासों के परिणाम थे।

सभी भारतीय समूहों द्वारा श्वेतों के विदेशी प्रभुत्व की संभावना का विरोध किये जाने से एकता को एक नयी ऊर्जा मिली। हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को खतरा था। दोनों ने, प्रायः मिलकर, विदेशी दासता का मुकाबला किया। राष्ट्रीय आंदोलन ने समुदायों और संस्कृतियों को पिघला दिया, यद्यपि अंत में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच गहरा अविश्वास और असंतोष पनपा जिसके परिणामस्वरूप देश का विभाजन हो गया। आधुनिक शिक्षा, परिवहन और संचार के संजाल के विकास तथा उद्योगीकरण और शहरीकरण ने एकता को नये आधार प्रदान किए।

कुछ समस्याएं अब भी बनी हुई हैं, कुछ नयी समस्याएं पिछले कुछ दशकों में उत्पन्न हुई हैं। नृजातीय आंदोलन, धार्मिक कट्टरपन, अंतरसामुदायिक संबंधो के संरूप में नये मोड़ों, भाषाई संघर्षो, क्षेत्रवाद तथा उपक्षेत्रवाद ने समकालीन भारतीय समाज के सामने नयी चुनौतियां खड़ी की हैं।

3

वर्ण और जाति

भारतीय समाज में व्यापक विभाजन तथा उप-विभाजन जटिल तथा भ्रम उत्पन्न करने वाले हैं। उनके सरलीकरण का प्रयास एक बिंदु के आगे जाने पर सामाजिक यथार्थ को विकृत कर सकता है। धर्म ग्रंथों और सामाजिक संहिताओं ने सामाजिक व्यवस्था की रूपरेखा प्रदान की है लेकिन अधिकतर वे यही बताती हैं कि *इसे क्या होना चाहिए;* यह नहीं बतातीं कि *यह क्या है।* लेकिन विद्यमान वास्तविकता अलग है। प्रतिमानों को धत्ता बताने के तथा संहिताओं का अर्थ तोड़ने-मरोड़ने के अनेक तरीके हैं। भारत पर लिखने वाले अनेक लेखकों ने स्थिति का अत्यंत सरलीकरण कर दिया है। उदाहरण के लिए 'चार जातियों वाली व्यवस्था' की बात बहुत भ्रामक है क्योंकि हमने देखा है कि जातियां असंख्य हैं जिनमें से कुछ का वर्गीकरण तथा स्थिति बहुत अस्पष्ट ढंग से परिभाषित करके छोड़ दी गयी हैं। मानवशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों द्वारा विशेष क्षेत्रों में किये गये विशेष अध्ययन व्यवस्था के काम करने के ढंग का विश्वसनीय विवरण देते हैं। लेकिन इन्हें राष्ट्रीय फलक पर लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि यह व्यवस्था देश के विभिन्न हिस्सों में अलग-अलग ढंग से संचालित है। समूह और समुदाय अपनी पहचान को लगातार पुनर्परिभाषित कर रहे हैं और अपने अतीत की पुनर्रचना कर रहे हैं, अतः उनकी प्रस्थिति बदलती रहती है। व्यवस्था में अपनी स्थिति के विषय में स्वयं उनके विचार प्रायः बदल जाते हैं, अतः उनकी परिवर्तित पहचान को सामान्य सामाजिक स्वीकृति मिलने की प्रक्रिया और भी धीमी है।

भारतीयों की पहचान कई प्रकार से होती है। संदर्भ से ही यह निर्धारित होता है कि वह अपनी पहचान किस रूप में कर सकता है। कुछ संदर्भों में धर्म, निवास स्थान, या परिवार सूचक नाम पर्याप्त हो सकता है। लेकिन अन्य स्थितियों

में उसे अपनी जाति, गोत्र और कुल का विवरण देना पड़ सकता है। जाति को अंग्रेजी में सामान्यतः कास्ट (caste) कहते हैं लेकिन कास्ट का इस्तेमाल अनेक और बहुत अलग-अलग अर्थों में किया जाता है। यह एक पूरे वर्ण अथवा एक समान नाम वाले जाति समुच्चय अपने समूह के भीतर विवाह करने वाले (अंतर्विवाही) समूह का द्योतक हो सकती है जिसकी परिभाषित जन्मना प्रस्थिति है अथवा ऐसे समूह का द्योतक भी हो सकती है जो वर्ण का उप-विभाग अथवा उससे छिटक कर अलग हुआ समूह हो। इस पुस्तक में जाति शब्द का प्रयोग इन तीनों में से दूसरे अर्थ में किया जायेगा। दूसरी ओर 'गोत्र' जाति का अपने समूह से बाहर विवाह करने वाला उप-विभाग है। व्यक्ति अपनी जाति में किंतु अपने 'गोत्र' से बाहर विवाह करता है। गोत्र सुदूर अतीत के समान पूर्वज (सर्वपूर्वज) की संतान होना इंगित करता है। पूर्वज प्रायः कोई मिथकीय चरित्र अथवा ऋषि अथवा उनका शिष्य होता है। अनेक जातियां—विशेषकर वे जो कर्मकांडीय स्तरीकरण के निचले स्तरों पर हैं—जनजातीय गणचिह्नों को मानती हैं और अतीत में किसी पशु अथवा जीवनहीन वस्तु से अपना दृढ़ साहचर्य तलाशती हैं। कुल (अथवा वंश) एक वंशपरंपरा का प्रतिनिधित्व करती है जो पांच या छह पीढ़ियों तक पीछे जाती हैं। इसके बाद यह परंपरा धुंधला जाती है। कुछ जातियों और जनजातियों के अपने पेशेवर चारण और गवैये होते हैं। वे प्रायः काफी लंबी वंशावली—जो उस समूह के मिथकीय पूर्वज तक जाती है—का विवरण देते हैं। निस्संदेह, इस वंशावली का अधिकांश कपोल-कल्पित होता है। इसमें वर्णित पूर्वजों के महान कार्यो, साहस और वीरता के विवरण भी गढ़े हुए होते है। हम पहले वर्ण और फिर जाति पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे।

वर्ण

हिंदू सामाजिक व्यवस्था में वर्ण केवल संदर्भ के काम आने वाला वर्ग है। यह सामाजिक संरचना में सक्रिय इकाई नहीं है। यह सिर्फ विभिन्न जातियों की जन्मना प्राप्त प्रस्थिति के बारे में मोटी-मोटी जानकारी देता है। यह वर्गीकरण का काम भी करता है। वर्ण के भीतर समान जन्मना आनुष्ठानिक प्रस्थिति वाली अनेक जातियां एक साथ समूहबद्ध होती हैं और उनका स्तर निर्धारित होता है। ऊपरी तीन स्तरों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्व—को द्विज (जिनका जन्म दो बार हो) माना जाता है क्योंकि जीवविज्ञान की दृष्टि से भौतिक जन्म लेने के बाद उनका दूसरा जन्म तब होता है जब उनका उपनयन संस्कार होता है। चौथे स्तर—शूद्र—

के अंतर्गत दस्तकारों और व्यवसाय विशेष में दक्ष जातियां आती हैं जो स्वच्छ अर्थात साफ-सुथरे व्यवसायों में रत हैं। वर्ण यहां समाप्त हो जाते हैं लेकिन एक पांचवां स्तर भी है जिसमें वे सारे लोग आ जाते हैं जिनके लिए माना जाता है कि वे अपवित्र माने जाने वाले अस्वच्छ पेशों में लगे हैं। वे 'अन्त्यज' अर्थात वर्ण व्यवस्था से बाहर हैं। इस स्तर की जातियों के समूह को अछूत/अस्पृश्य कहा जाता था। कानून के जरिये अस्पृश्यता उन्मूलन हो गया है लेकिन व्यवहार में प्रच्छन्न और प्रकट दोनों रूपों में यह प्रथा देश के लगभग सभी भागों में आज भी जारी है। अनुसूचित जातियां—'अन्त्यज', जिन्हें गांधीजी ने हरिजन कहा और जो अब स्वयं को दलित कहती हैं—भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 16 प्रतिशत हैं। अनुसूचित जनजातियां—आदिवासी, आदिमजाति अथवा गिरिजन जो जनसंख्या का 7 प्रतिशत हैं—भी इसी श्रेणी में हैं हालांकि उनमें से अधिकतर अस्पृश्यता के कलंक से बची रही हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर पांच स्तर हैं जिनमें जातियों की बड़ी संख्या वर्गीकृत तथा समूहीकृत है।

यह व्यवस्था सीधी-सादी और आकर्षक तो है लेकिन बहुत आदर्शीकृत तथा अतिसरलीकृत भी है। यह गुणवत्ता और कार्य तथा 'जैविक सहलग्नता' के आधार पर समाज के मोटे तौर पर किए गये विभाजनों का मॉडल प्रदर्शित करती है। इसमें सामाजिक व्यवस्था का वह यथार्थ प्रतिबिंबित नही होता जो कहीं अधिक जटिल है। जैसाकि पहले बताया जा चुका है, पूर्ण अछूत जातियां चातुर्वर्ण व्यवस्था से बाहर हैं जबकि वे हिंदू सामाजिक व्यवस्था का ही एक हिस्सा हैं। इस व्यवस्था में अन्य अस्पष्टताएं भी हैं। उत्तरी और पूर्वी भारत के कायस्थों को किस वर्ण में रखा जायेगा ? केरल के नायरों को कौन सा दर्जा दिया जायेगा—क्षत्रिय अथवा शूद्र ? वस्तुतः इस व्यवस्था में कोई एकरूप अखिल भारतीय सोपानबद्धता नहीं है; विशिष्ट प्रस्थिति क्रम में कुछ जातियों का एक क्षेत्र में एक स्थान है तो दूसरे क्षेत्रों में दूसरा; यहां तक कि वर्णों का वितरण भी पूरे हिंदू समाज में एक जैसा नहीं है। दक्षिण में वहां के स्थानीय और अधिकृत क्षत्रिय और वैश्य लगभग नहीं हैं। यथार्थ में सोपानबद्ध वर्णक्रम उतने स्पष्ट नहीं हैं जैसाकि वे मॉडल में प्रतीत होते हैं। कुछ जातियों की स्थिति अस्पष्ट है और उन पर राज दरबारों में विद्वत मंडलियों में तथा आधुनिक समय में न्यायालयों में विवाद हुए हैं। ऐसे विवादों के परिणामस्वरूप प्रायः संघर्ष भी हुए हैं और इनसे प्राप्त उत्तर परस्परविरोधी रहे हैं। वर्ण प्रस्थिति की अपरिवर्तनीयता को चुनौती दी गयी है। पवित्र ग्रंथों मे जन्मना प्रस्थिति के उच्चीकरण के कुछ उदाहरण मिलते है। ऐसे उदाहरण भी

हैं जहां पूरी जाति की प्रस्थिति निम्नतर कर दी गयी क्योंकि संभवतः उसने आचरण के अपेक्षित मानदंडों का पालन नहीं किया। भक्ति संप्रदाय के संत कवियों ने इस संरूप(पैटर्न) की अपरिवर्तनशीलता पर प्रश्नचिह्न लगाये हैं तथा इस व्यवस्था की कठोरता और असमता के विरुद्ध समय-समय पर शक्तिशाली आंदोलन हुए हैं।

सामाजिक व्यवस्था के कार्य संचालन में 'वर्ण' का उपयोग सीमित है। वे जन्मना प्रस्थिति, सामाजिक जीवन के कुछ क्षेत्रों में विशेषीकृत प्रकार्यों, तथा आचार-व्यवहार के मानदंडों की अपेक्षाओं के स्थूल और तैयार संकेतक ही प्रदान करते हैं। हाल के दशकों में वोट जुटाने के लिए इस वर्ण निष्ठा और हितों का इस्तेमाल करने के प्रयास किए गये हैं लेकिन वास्तव में सक्रिय इकाई जाति, परिवार, वंश और नातेदारी का संजाल ही है।

जाति की विलक्षणता पर विस्तृत चर्चा करने से पूर्व हम 'जातियों' (कास्ट्स) की उत्पत्ति के सिद्धांतों पर संक्षिप्त दृष्टि डाल लें जो वास्तव में वर्ण से सीधे संबधित है। ये सिद्धांत वस्तुत: जातियों के नहीं वर्णो की उत्पत्ति की व्याख्या करते हैं।

दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत सुप्रसिद्ध है और इसका उदाहरण अक्सर दिया जाता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में इसकी शुरुआत देखी जा सकती है। मान्यता है कि समाज के ये चार वर्ग 'पुरुष'—सृष्टा, प्रथम अस्तित्व—के आत्मबलिदान से उत्पन्न हुए। कहा जाता है कि पुरुष ने स्वयं को इसलिए नष्ट कर दिया ताकि एक उचित सामाजिक व्यवस्था जन्म ले सके। बताया जाता है कि ब्राह्मण उसके सिर अथवा मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य जंघाओं से तथा शूद्र चरणो से उत्पन्न हुए। यह अधिक से अधिक चारों वर्णो के पद और कार्यों का प्रतीकात्मक विवरण है। सांस्कृतिक देह-छवि में सिर, भुजाएं, जंघाएं तथा पैर अवरोही क्रम में हैं। पारंपरिक व्यवसाय भी इसी क्रम में है। ज्ञान की प्राप्ति और उसका प्रचार-प्रसार तथा यज्ञ कराने—ब्राह्मणों के कार्य—को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी। पदक्रम में इसके बाद रक्षा और युद्ध, प्रशासन तथा शासन के कार्य थे जो क्षत्रियों को सौंपे गये थे। पदक्रम मे तीसरा स्थान व्यापार, वाणिज्य और कृषि का था जो वैश्य का काम है। अतिम है शिल्प तथा श्रम द्वारा दूसरों की सेवा जो शूद्रों का काम था। यह काम सबसे निम्न कोटि का था।

वर्ण का त्रिगुण सिद्धांत कुछ कम जाना जाता है। प्राचीन भारत के दार्शनिक चिंतन में मनुष्य, सजीव और निर्जीव के तीन गुण माने गये हैं : सत्व, रजस तथा तमस। 'सत्व' में उदात्त विचार तथा कार्य, भलाई और गुण, सत्य तथा

बुद्धि-विवेक समाहित है। दूसरी ओर 'रजस' का लक्षण है, ऊंचा रहन-सहन् और भोग-विलास, तथा कुछ आसक्ति, गर्व तथा वीरता। सबसे नीचे है तमस जिसके लक्षण हैं रुक्षता और मंदता, सुरुचिहीन अतिभोग, बिना अधिक कल्पनाशीलता के भारी काम करने की क्षमता। सात्विक गुणों वाले लोगों को ब्राह्मण वर्ग में, राजसी गुणों वाले लोगों को क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ग में तथा तामसिक गुणों वाले लोगों को शूद्र वर्ग में रखा गया। चार वर्णों में ये गुण दिखायी भले पड़ें लेकिन यह कल्पना कर पाना कठिन है कि कैसे एक पूरी आबादी को एक ऐसे वर्गीकरण के भारी भरकम संचालन के अधीन रख दिया गया होगा।

तीसरे सिद्धांत में नृजातीय (एथनिक) अधिमिश्रण, सांस्कृतिक संपर्क तथा व्यावसायिक विशेषज्ञता पर ध्यान दिया गया है। इन तीनों घटकों में से अकेला कोई एक वर्णो की उत्पत्ति को स्पष्ट नहीं कर सकता। हिंदू समाज के विकास के प्रारंभिक चरण—वैदिक काल—में प्रजाति तथा वर्ण (रंग) महत्वपूर्ण तत्व थे। किंतु अपने पूर्ण विकसित रूप में यह केवल एक काल्पनिक प्रपंच था न कि जीववैज्ञानिक यथार्थ। आर्यीकरण सांस्कृतिक संपर्क का परिणाम था लेकिन यह कोई इकतरफा प्रक्रिया नहीं थी जिसमें केवल दाता-ग्राहक संबंध हों। जैसाकि पहले बताया जा चुका है, व्रात्य आर्य पूर्व परंपराएं अक्षुण रहीं और इस प्रक्रिया में उन्होंने आर्य सामाजिक संगठन, कर्मकांडों, विश्वासों, विश्व दृष्टि तथा उसके लोकाचारों को परिष्कृत किया। नयी उभरती सामाजिक व्यवस्था में समूह के समूह समाहित हो गये। उन्होंने इस प्रक्रिया में कुछ नयी विशेषताएं अपनायीं, कुछ पुरानी विशेषताओं को बरकरार रखा तथा एक अधिक व्यापक समाज पर अपनी छाप छोड़ी। व्यावसायिक रूप से विशेषता प्राप्त समूह पहले से ही मौजूद थे। उन्हें उपयुक्त सामाजिक पदक्रम तथा कर्मकांडीय प्रस्थिति के साथ नये समाज में शामिल कर लिया गया।

जाति

जाति शब्द भ्रम उत्पन्न करने वाला है। विभिन्न संदर्भो में इसे भिन्न-भिन्न अर्थो में और भिन्न सामाजिक श्रेणियों के लिए इस्तेमाल किया जाता है। बेहतर होगा कि जाति शब्द का इस्तेमाल उस अंतर्विवाही समुदाय के लिए किया जाय जिसकी आनुष्ठानिक प्रस्थिति कमोबेश परिभाषित है तथा जिसके साथ कोई व्यवसाय पारंपरिक तौर पर जुड़ा हुआ है। यहां दो सावधानियां जरूरी हैं। प्रथम, तीन उच्चतर वर्णों का उल्लेख उनके मूल नामों से किया जा सकता है यद्यपि वास्तविक जातियां

उनके उप-विभाग हैं। दूसरे, कुछ जाति समूहों का नाम एक ही है और वास्तविक जाति की पहचान इस सांझे नाम के साथ कोई उपसर्ग या प्रत्यय जोड़कर की जाती है। उत्तर भारत के ब्राह्मण अनेक अंतर्विवाही जातियों में बंटे हैं, जैसे कान्यकुब्ज, सरयूपारीण, गौड़, आदि। महाराष्ट्र में उनका विभाजन देशस्थ, कोंकणस्थ, कर्हादे तथा सारस्वत में है। तमिलनाडु में उनका मुख्य विभाजन आयंगर और अय्यर के बीच है। इन जातियों के भी उप-समूह हो सकते हैं जिनकी कुछ अपनी विशेषताएं हों। ऐसे समूह अनेक प्रकार के हो सकते हैं। उदाहरण के लिए कान्यकुब्जों को एक बीस बिंदुओं वाले पैमाने पर उनकी जन्मना प्रस्थिति के अनुसार बिसवे प्रदान किए जाते हैं। बिसवों की संख्या जितनी अधिक होगी उस बिसवे वाला समूह पदक्रम में उतने ही ऊंचे स्थान पर होगा। बिसवा का अर्थ है बीस। जिस वर्ग के पास पूरे बीस बिसवा हैं वह उच्चतम स्थान पर होता है। शेष समूह उसके बाद अपने अपने बिसवा की संख्या के अनुरूप स्थान पाते हैं। यह आश्चर्यजनक है कि बिसवा की अपनी संख्या को लेकर बीस और अठारह बिसवा वाले समूह अब भी गर्व करते हैं। सरयूपारीण ब्राह्मणों में विभाजन उनकी आनुष्ठानिक शुचिता के आधार पर होता है। उनमें सर्वोच्च हैं पंक्तिपावन जो कल्पित उच्चतम पवित्रता की पंक्ति निर्मित करते हैं। भोजन के समय ये लोग अलग बैठते हैं। कथित रूप से कम पवित्रता वाले उनके साथ नहीं बैठ सकते यद्यपि वे भी सरयूपारीण हैं। युवा पीढ़ी को अपने ऊपर थोपे गये आनुष्ठानिक प्रथाओं के मानंदडों का पालन करने में कठिनाई होती है लेकिन उनका एक वर्ग अपनी उच्च आनुष्ठानिक प्रस्थिति की प्रिय स्मृतियां अब भी संजोए हुए है।

उच्चतर समूह निम्नतर समूहों के साथ अनुलोम विवाह कर सकते हैं; वे निम्नतर समूहों को अपनी पुत्रियां नहीं देंगे किंतु समान श्रेणी के परिवारों में वधू न मिल पाने की स्थिति में वे निचले समूहों की कन्याएं स्वीकार कर लेंगे। जो द्विज नहीं हैं ऐसे भी कुछ जाति समूहों का एक सामान्य नाम होता है हालांकि इस समूह में अनेक अलग-अलग, अंतर्विवाही जातियां शामिल होती हैं। बाहरी लोग उन्हें समान प्रस्थिति वाली एक इकाई मान लेते है लेकिन आंतरिक रूप में अंतर्विवाह की सीमाएं स्पष्टतः परिभाषित होती हैं तथा जाति समूह के घटकों के बीच सूक्ष्म स्थितिभेद बने रहते हैं। दक्षिण में नीलगिरि पहाड़ियों के बादगा का यह वंशनाम है लेकिन वे अनेक जातियों—अंतर्विवाही समूहों—में विभाजित हैं। प्रत्येक का अपना नाम है और उस जाति समूह के भीतर उनकी अपनी अलग पहचान है। यही स्थिति महाराष्ट्र के कुनबियों और गुजरात के पाटीदार तथा बड़िया

की भी है। मध्य प्रदेश के छत्तीसगढ़ क्षेत्र में गड़रिया और कहार समूहों को रावत कहा जाता है लेकिन उनके अंतर्गत अनेक अंतर्विवाही जातियां हैं जैसे कनोजिया, झेरिया, कोसारिया, ओरिया तथा संभवतः अन्य। नाइयों, धोबियो, सुनारों, लोहारों, कुम्हारों तथा अन्य अनेक जाति समूहों में इसी तरह अंतर्विवाही जातियों के समूह मौजूद हैं।

यह सरलीकृत विवरण भी भ्रम उत्पन्न करने वाला प्रतीत होता है लेकिन इसे ऐसा होना ही है क्योंकि सामाजिक यथार्थ की जटिलता का कोई अंत नहीं है। विविधतापूर्ण समूहों और व्यवस्थाओं को विभिन्न क्षेत्रीय संदर्भो में समायोजित करना इस बात को असंभव बना देता है कि कोई ऐसा चुस्त-दुरुस्त, सुस्पष्ट संरचनात्मक नमूना (माडल) बने जिसमें इकाइयां और अंग भलीभांति समायोजित हों ताकि एक निरंतरतापूर्ण और तार्किक व्यवस्था प्राप्त हो सके। इस प्रकार, हमें इस व्यवस्था की परिकल्पना तीन स्तरों पर करनी होगी : शिखर पर चार मान्यताप्राप्त (और एक मान्यताविहीन) वर्ण हैं जो आनुवांशिक हैं और जिनकी आनुष्ठानिक प्रस्थिति कमोबेश समान है। मध्य में सामान्य नाम वाले जाति समूह है जो अन्य अंतर्विवाही जातियों मे उपविभाजित हैं। एकदम नीचे ऐसी अंतर्विवाही जातियां है जो शिखर और मध्यवर्ती स्तरों के विपरीत न केवल वर्गीकृत हैं तथा आनुष्ठानिक प्रस्थिति की सूचक हैं बल्कि वे सामाजिक संरचना की प्रभावी एवं कार्यकर्ता इकाइयां भी हैं।

अब हम जाति की कुछ मुख्य विशेषताओं की विवेचना कर सकते हैं :

1. जातियां अंतर्विवाही इकाइयां हैं।

2. वे सोपानबद्धता के अनुसार क्रमबद्ध हैं।

3. उनके व्यवसाय निरपवाद रूप से जातिगत होते हैं।

4. विभिन्न इकाइयों के बीच अंतर्क्रिया धार्मिक शुचिता अथवा अशुचिता के आधार पर निर्धारित होती है।

5. एक जाति के सदस्य सामान्यतः एक समान संस्कृति के साझीदार होते हैं—एक समूह के लोगों की जीवनशैली जिसमें आचार-विचार के परंपरागत संरूप होते हैं। इन संरूपों में विश्वास, मूल्य, आचरण के नियम, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक संगठन सम्मिलित है। ये संरूप एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी को जैविक आनुवांशिकता से नहीं मिल जाते बल्कि सीखे जाते हैं।

6. भारत के कई भागों मे सामाजिक नियंत्रण तथा संघर्ष समाधान के लिए जातियों के अंतःग्राम तथा अंतरग्राम तंत्र हैं।

इन विशेषताओं को व्यापक रूप से सामान्य स्वीकृति प्राप्त है। लेकिन इनमें से प्रत्येक के कुछ अपवाद भी हैं और ये आपवाद भी स्वीकृत हैं। जाति अंतर्विवाही समूह हैं, किंतु कुछ निम्नतर जातियां उनमे विवाह करने वाले बाहरी स्त्री या पुरुष को अपने में समाहित कर लेती हैं। ऐसे विवाहों से उत्पन्न बच्चों को जाति पूरी तरह स्वीकार करती है। कुछ उच्चतर जातिया भी अनुलोम विवाहों की अनुमति देती हैं। अनुलोम विवाह में पुरुष तनिक नीची जातियों की अनुमत परिधि के भीतर की लड़की से विवाह कर सकता है। उनकी संतान निष्कलंक होती है और उसे जाति की संपूर्ण सदस्यता दी जाती है। जाति की एक महत्वपूर्ण विशेषता है सोपानबद्धता किंतु प्रस्थिति और पदक्रम (रैंक) के सूचक सुस्पष्ट एवं सुपरिभाषित नहीं हैं। तीनों द्विज स्तरों की प्रत्येक जाति अपने लिए उच्चतर प्रस्थिति का दावा करती है और अपने ही स्तर की अन्य जातियों द्वारा किये गये ऐसे ही दावों पर विवाद खड़ा करती है। चौथे स्तर अर्थात शूद्रो में अधिक भ्रम की स्थिति है। अनेक जातियां अपने मिथकीय अतीत की पुनर्रचना में लगी हैं और अपनी जन्मना प्राप्त प्रस्थिति से उच्चतर आनुष्ठानिक प्रस्थिति का दावा करती हैं। उनके बीच यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार पाने की प्रतिस्पर्धा है। किसी पुरस्कार के बदले किसी धार्मिक संस्था अथवा अधिकरण द्वारा उन्हें यह अधिकार प्रदान कर दिया जाता है। जातियों के अस्पृश्य स्तर के भीतर भी अस्पृश्यता की प्रथा है। आंध्रप्रदेश में माला स्वयं को मदीगा से श्रेष्ठ मानते हैं। महाराष्ट्र के महार स्वयं को धेड़, मांग तथा अन्य दलित समूहों से श्रेष्ठ मानते हैं। उत्तरप्रदेश और बिहार में चमार अनुसचित जातियों की ऊंची जाति है।

सोपानवद्धता की विशेषताएं तथा व्यवसाय परस्पर जुड़े हुए हैं। विभिन्न वर्ण स्तरों तथा उसी वर्ण स्तर अथवा उसके बाहर की अधिकतर जातियों के बीच भी मान्यताप्राप्त आनुष्ठानिक तथा सामाजिक दूरी है। आनुष्ठानिक पवित्रता का एक आधारभूत अंश जन्मना होता है : यह व्यक्ति को अपने जन्म के संयोग से प्राप्त होता है। एक सामान्य नियम के रूप में कहा जा सकता है कि एक 'स्वच्छ' तथा 'उदात्त' व्यवसायें जाति को उच्चतर आनुष्ठानिक और सामाजिक स्थिति प्रदान करता है तथा 'अस्वच्छ' व 'अपवित्रकारी'(पाल्यूटिग)मलिन व्यवसाय उसे एक निम्नतर प्रस्थिति में पहुंचा देते हैं। ज्ञानार्जन, ज्ञान देना, तथा पुरोहिती कार्य 'पवित्र' तथा उदात्त है, इस कारण ब्राह्मण को सर्वोच्च स्थान मिला है। चमड़े का काम अथवा सफाई का काम (मनुष्य के अपशिष्ट सहित) 'अस्वच्छ' तथा 'अपवित्रकारी' है; इस कारण ये काम करने वाली जातियों की प्रस्थिति निम्नतम

है। स्वच्छ-अस्वच्छ, पवित्र-अपवित्र की धारणाएं जातियों के अपने भीतर तथा अन्य जातियों के साथ व्यवहार में तथा परस्पर क्रिया में भी प्रवेश कर जाती हैं। वे हिंदू मानस का अंग बन गयी हैं। किंतु अब चीजें बदल रही हैं। समकालीन यथार्थ परंपरा से धीरे-धीरे दूर होता जा रहा है।

इस संदर्भ में एक और सामान्य प्रस्थापना की जा सकती है : जाति जितनी ऊंची होगी उसमें धार्मिक 'शुचिता' बनाये रखने तथा 'अशुचिता' से बचने से संबंधित नियम उतने ही जटिल तथा विस्तृत होंगे। जहां तक अंतरजातीय 'अशुचिता' का प्रश्न है; भोजन तथा व्यक्तिगत संपर्क के माध्यम से होने वाली 'अशुचिता' पर ध्यान देना आवश्यक है। भोजन के संदर्भ में पूछे जाने वाले प्रश्न इस प्रकार हैं : कैसा भोजन ? किसने पकाया ? आप किस जाति के साथ यह भोजन ग्रहण करते हैं ? 'सात्विक' भोजन—फल, दूध, कंद-मूल, तथा सामान्य शाकाहारी भोजन—शुचिता के पैमाने में ऊंचे स्थान पर है। अत्यंत नीची जाति के व्यक्ति द्वारा लाया फल ब्राह्मण भी खा सकता है बशर्ते उसे किसी अपेक्षाकृत स्वच्छ जाति के व्यक्ति द्वारा लाये जल से धोया तथा एक भलीभांति धुले कपड़े से पोंछा गया हो। दूध और दही कुछ समस्या खड़ी करते है क्योंकि ये द्रव हैं, इनमे पानी मिलाया जा सकता है और पानी आसानी से अशुद्ध हो जाता है। यही कारण है कि अधिकांश गांवों में उच्च जातियों और अनुसूचित जातियों के कुएं अलग हैं। यदि एक ही कुआं है तो उसका इस्तेमाल एकांतिक रूप से 'ऊंची' जातियां ही करेंगी, अनुसूचित जातियों को प्रायः वहां तक पहुंचने नहीं दिया जाता। भारत के बड़े क्षेत्र में पारंपरिक जलवाहक (कहार) चौथे वर्ण स्तर के हैं और उनके द्वारा लाया पानी सामान्यतः सभी स्वीकार करते हैं। केवल वे ही यह पानी स्वीकार नहीं करते जो धार्मिक शुचिता के उच्चतम स्तर का आचरण करते हैं। उनके लिए समान रूप से 'पवित्र' पदक्रम के व्यक्ति द्वारा ही पानी भरा जाना चाहिए और वह भी आनुष्ठानिक दृष्टि से 'पवित्र' व्यक्तिगत दशा में। राजसी तथा तामसी भोजन के बीच अंतर करना कठिन है। उनकी परिभाषा में क्षेत्रीय अंतर बहुत अधिक तथा जटिल है। हिरन का मांस राजसी माना जाता था। इसी तरह अंगूर तथा अन्य ऐसे फलों से, जिन्हें 'अपवित्र' नहीं माना जाता, निर्मित मदिरा भी राजसी मानी जाती थी। तीखी और तेज गंध वाली सब्जियां—प्याज और लहसुन—तामसी थीं। इसके अतिरिक्त भैंस तथा सुअर का मांस भी तामसी था। जगली सुअर तथा मुर्गे पालतू सुअरों और मुर्गों के मुकाबले अधिक पवित्र थे। ब्राह्मण और वैश्य जातियों से 'सात्विक' भोजन तक सीमित रहना अपेक्षित

था। लेकिन इसके अपवाद थे। कश्मीरी पंडित, महाराष्ट्र के पश्चिमी तट के सारस्वत, बंगाल और उड़ीसा के ब्राह्मण मछली और मांस खाते हैं। क्षत्रियों को राजसी भोजन करने का निर्देश था तथा शूद्रों को तामसी भोजन। उनसे भी नीचे की जातियां कुछ निषिद्ध खाद्य भी खा सकती थीं। स्वच्छ जातियों में 'कच्चे' और 'पक्के' भोजन में भी भेद किया जाता है। 'कच्चे' भोजन को पकाने में पानी का इस्तेमाल होता है जबकि 'पक्का' भोजन घी अथवा शुद्धीकृत मक्खन में पकाया जाता है। जहां द्रव जरूरी हो, जैसे आटा गूथना अथवा लोई बनाना, वहां पानी के स्थान पर दूध का इस्तेमाल किया जाता है। खीर अथवा पायसम आनुष्ठानिक दृष्टि से तब पवित्र होते हैं यदि चावल को पहले घी मे हलका भून लिया जाये और फिर दूध में पकाया जाये। कच्चा भोजन नियमतः अपनी जाति की तुलना में उच्चतर जातियों से ही ग्रहण किया जा सकता है। कुछ मामलो में कमोबेश समान कर्मकांडीय पदक्रम वाली जातियों द्वारा परोसा गया कच्चा भोजन भी ग्रहण किया जा सकता है। पक्के भोजन मे काफी नीचे तक जाया जा सकता है। लेकिन 'स्वच्छ' जातियां 'अस्वच्छ' शूद्रों जैसे नाई, धोबी, टोकरिया बनाने वाले आदि से पक्का भोजन भी नहीं ग्रहण करेंगी। चार वर्णो की कोई भी जाति उन समुदायों से 'पक्का भोजन' भी ग्रहण नही करेगी जो पारंपरिक रूप से अछूतों में वर्गीकृत हैं।

सहभोज के नियम भी भ्रमोत्पादक और जटिल है। एक ही जाति में ऐसे श्रेणीकरण हो सकते हैं जिनमें अंतर्भोज निषिद्ध है। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के विषय में कहा जाता है, 'तीन कनौजिया तेरह चूल्हे'—अर्थात तीन कनौजियों का भोजन तेरह अलग चूल्हों पर पकता है। इस कहावत में स्पष्ट अतिशयोक्ति तो है किंतु यह पूरे परिदृश्य की जटिलता का उदाहरण भी है। यहां मुख्य प्रश्न यह है : भोजन के लिए एक साथ बैठने पर कौन किसे अपवित्र करता है ? 'पक्के' भोजन के संदर्भ में निषिद्ध श्रेणियां कम हैं, और कच्चे भोजन के संदर्भ मे अधिक। जातियों के बीच सामाजिक दूरी देखने का एक अच्छा तरीका है, वैवाहिक दावतों, मृत्यु के बाद दसवें और तेरहवें दिन होने वाले भोजो अथवा सांस्कृतिक रूप से पाप माना जाने वाला कोई कृत्य करने अथवा कोई गंभीर सामाजिक अपराध करने के बाद दिये जाने वाले शुद्धीकरण भोजों में अग्रताक्रम तथा व्यवस्था, अलगाव और समूहीकरण को देखा जाय। एक दिए गये क्षेत्रीय संदर्भ में ये जाति पदक्रम पर प्रकाश डालते है।

स्वच्छ जातियों और हीन जातियो की कई श्रेणियां के बीच भौतिक संपर्क से बचा जाता है। दक्षिण भारत में अस्पृश्यता प्रथा के अतिरेकपूर्ण उदाहरण मिलते

हैं। कुछ निम्नतम जातियों का दर्शन मात्र अपवित्रकारी माना जाता था। फिर वहां ऐसी जातियां भी थी जिनका छाया संपर्क भी अपवित्रकारी था। यह प्रथा तमिलनाडु और केरल में प्रचलित थी। केरल के तियान (ताड़ी उतारने वाले) को नंबूदिरीपाद ब्राह्मणों से 36 पग तथा पुलयन (खेतिहर) को 96 पग की दूरी रखनी पड़ती थी। अस्पृश्यता के सर्वाधिक प्रचलित–तथा सबसे कम कठोर–रूप के अतर्गत केवल स्वच्छ जातियों के साथ उनका शारीरिक संपर्क तथा स्वच्छ जातियों के घरों में उनका प्रवेश निषिद्ध था। अछूत जातियों का मंदिरों में प्रवेश वर्जित था तथा वे गांव के साझा कुएं से पानी नहीं ले सकती थीं। उनके घर गांव से बाहर, प्रायः कुछ दूरी पर होते थे। उन्हें स्कूल में अलग बैठना पड़ता था। चाय की दुकानों में भी उनके लिए निशान लगे प्याले अलग थे जिन्हें उन्हें खुद धोकर अलग रखना पड़ता था। कानूनन अस्पृश्यता का उन्मूलन हो गया है और अनुसूचित जातियों को सिद्धांत रूप में समान मान लिया गया है। लेकिन द्वेषपूर्ण भेदभाव अब भी किया जाता है तथा भेदभाव के सूक्ष्म रूप अब भी मौजूद हैं।

एक जाति के सदस्यो के लिए एक साझी संस्कृति का भागीदार बनना आज के मुकाबले अतीत में ज्यादा आसान था। लेकिन तब भी इसके महत्वपूर्ण अपवाद थे। अधिकतर जातियां एक क्षेत्र विशेष में सीमित रहती थीं। वे क्षेत्रीय संस्कृति का हिस्सा होती थीं और साथ ही उनके अपने सुनिश्चित जातिगत सांस्कृतिक लक्षण भी होते थे। राजपूत इसका अपवाद थे। उनमें व्यापक क्षेत्रीय विभेद थे जो काफी स्पष्ट थे। राजपूत सजातीय विवाह का निर्देश भी नहीं देते थे। संस्कृति और भाषा की दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रीय समूहों में विभेद थे लेकिन वे परस्पर विवाह की संभावना को नकारते नहीं थे। समृद्धि और ताकत ने एक वर्ग को कुछ ऐसी सांस्कृतिक विशेषताएं प्रदान की थीं जिनमे कम सुविधा प्राप्त वर्गो की कोई हिस्सेदारी न थी।

अधिकतर जातियों में संघर्षो के समाधान के लिए ग्राम और अंतरग्राम स्तर पर अपने तंत्र हैं। हालाकि अव ये तंत्र कमजोर हो रहे हैं लेकिन इन्हें खारिज नहीं किया जा सकता। अध्याय पांच में हम इन पर वापस लौटेंगे।

जाति के कर्मकांडीय आयाम का आधुनिक समय में काफी क्षरण हुआ है, लेकिन जाति को एक अनपेक्षित स्रोत से कुछ ताकत मिल गयी है। जनतांत्रिक चुनावों में गोलबंदी के आधारों की आवश्यकता होती हैं और जाति भाईचारे का जबर्दस्त राजनीतिक प्रभाव देखा गया है। इसका व्यापक इस्तेमाल किया गया है लेकिन अनेक चुनावक्षेत्रों में मुख्य प्रतिद्वंद्वी एक ही जाति के होते हैं। इससे

राजनीति में 'जाति के पत्ते' का प्रभाव कम हो जाता है। एक अन्य प्रवृत्ति भी दिखायी पड़ती है : ग्रामीण परिदृश्य पर अपना नियंत्रण बनाये रखने के लिए धनी और ताकतवर जातियां एक साथ मिल रही हैं। यह गठजोड़ निम्नतर समूहों को काबू मे रखने के लिए आतंक और अपने आर्थिक तथा राजनीतिक प्रभाव का इस्तेमाल करता है। विद्रोह के हलके से हलके, क्षीणतम संकेत को शारीरिक हिंसा (इसमें बलात्कार तथा हत्या शामिल है) द्वारा, खड़ी फसल को नष्ट कर तथा गांव के गांव को आग लगाकर खामोश कर दिया जाता है। गरीबों को प्रभावशाली लोगो के उम्मीदवारों को वोट देने पर मजबूर कर अथवा उन्हें मतदान करने से ही रोककर चुनाव परिणामों को प्रभावित किया जाता है। इस प्रकार सत्ता के साथ जाति का गठजोड़ देश की जनतांत्रिक प्रक्रिया को तबाह कर रहा है।

भारत की जाति व्यवस्था की देश और विदेशों में बहुत आलोचना हुई है। फिर भी, वर्ण और जाति में असाधारण मजबूती तथा लचीलापन रहा है और वे अपने ऊपर हुए हर आघात को झेलकर किसी न किसी रूप में बचे हुए हैं। लेकिन बदलते समय में उन्हें अपने को बदलना पड़ा। उदाहरण के लिए अस्पृश्यता, सहभोज तथा जातिगत व्यवसायों की प्रथा में काफी ढीलापन आया। लेकिन इसके साथ ही, जैसाकि पहले कहा जा चुका है, जातियों ने नयी राजनीतिक भूमिकाएं ग्रहण कर ली हैं। इस प्रकार आजादी के इतने वर्ष बाद भी वर्ण-जातिगत एकता नए सिरे से मजबूत हो रही है।

पूर्ववर्ती अध्यायों में हमने देखा है कि कैसे भारत में बाहर से आये धर्मों—विशेषकर ईसाई और इस्लाम—को वर्ण और जाति के साथ समझौता करना पड़ा और उनकी कुछ विशेषताओं को, जो उनके आधारभूत सिद्धांत का अंग नहीं थीं, अपनाना पड़ा। आश्चर्यजनक बात यह है कि ये विशेषताएं आज भी कायम हैं।

ईसाइयों और मुसलमानों में कोई सुस्पष्ट वर्ण विभाजन नहीं मिलता किंतु उनमें भी उच्च जाति से धर्म परिवर्तन करने वालों और निम्न जाति के धर्मांतरितों के बीच भेद किया जाता है। उच्च जाति से धर्मातरित लोग अपनी पहचान ब्राह्मण ईसाइयों या नायर ईसाइयों अथवा राजपूत या त्यागी मुसलमानों के रूप में करते हैं। मंडल आयोग (1980) की टिप्पणी है, '...जाति व्यवस्था मस्तिष्क को अत्यधिक अनुकूलित करती है तथा व्यक्ति की सामाजिक चेतना और सांस्कृतिक लोकाचारों पर अमिट चिह्न छोड़ती है।'

जनवरी 1988 में अपनी वार्षिक बैठक में तमिलनाडु के बिशपों ने इस बात पर ध्यान दिया कि धर्मातरण के बाद भी अनुसूचित जाति के ईसाई परंपरागत

अछूत प्रथा से उत्पन्न सामाजिक, शैक्षिक और आर्थिक अति पिछड़ेपन का शिकार बने हुए हैं। फरवरी 1988 में जारी एक भावपूर्ण पत्र में तमिलनाडु के कैथलिक बिशपों ने स्वीकार किया : 'जातिगत विभेद और उनके परिणामस्वरूप होने वाला अन्याय और हिंसा ईसाई सामाजिक जीवन और व्यवहार में अब भी जारी है। हम इस स्थिति को जानते हैं और गहरी पीड़ा के साथ इसे स्वीकार करते हैं।' भारतीय चर्च अब यह स्वीकार करता है कि 1 करोड़ 90 लाख भारतीय ईसाइयों का लगभग 60 प्रतिशत भाग भेदभावपूर्ण व्यवहार का शिकार है। उसके साथ दूसरे दर्जे के ईसाई जैसा अथवा उससे भी बुरा व्यवहार किया जाता है। दक्षिण में अनुसूचित जातियों से ईसाई बनने वालों को अपनी बस्तियों तथा गिरजाघर दोनों जगह अलग रखा जाता है। उनकी 'चेरी' या बस्ती मुख्य बस्ती से कुछ दूरी पर होती है और दूसरों को उपलब्ध नागरिक सुविधाओं से वंचित रखी जाती है। चर्च में उन्हें दाहिनी ओर अलग कर दिया जाता है। उपासना (सर्विस) के समय उन्हें पवित्र पाठ पढ़ने की अथवा पादरी की सहायता करने की अनुमति नहीं होती। बपतिस्मा, दृढ़ीकरण अथवा विवाह संस्कार के समय उनकी बारी सबसे बाद में आती है। नीची जातियों से ईसाई बनने वालों के विवाह और अंतिम संस्कार के जुलूस मुख्य बस्ती के मार्गों से नहीं गुजर सकते। अनुसूचित जातियों से ईसाई बनने वालों के कब्रिस्तान अलग है। उनके मृतकों के लिए गिरजाघर की घंटियां नहीं बजतीं, न ही अंतिम प्रार्थना के लिए पादरी मृतक के घर जाता है। अंतिम संस्कार के लिए शव को गिरजाघर के भीतर नहीं ले जाया जा सकता। स्पष्ट है कि 'उच्च जाति' और 'निम्न जाति' के ईसाइयों के बीच अंतर्विवाह नहीं होते और अंतर्भोज भी नगण्य हैं। उनके बीच झड़पें आम हैं। नीची जाति के ईसाई अपनी स्थिति सुधारने के लिए संघर्ष छेड़ रहे हैं, गिरजाघर अनुकूल प्रतिक्रिया भी कर रहा है लेकिन अब तक कोई सार्थक बदलाव नहीं आया है। ऊंची जाति के ईसाइयों में भी जातिगत मूल याद किए जाते हैं और प्रच्छन्न रूप से ही सही लेकिन सामाजिक संबंधों में उनका रंग दिखायी देता है।

मुसलमानों में स्थिति कुछ भिन्न है। नमाज अदा करने के लिए मस्जिदों में प्रवेश पर कोई प्रतिबंध नहीं है और अछूत प्रथा स्पष्ट नहीं है। लेकिन सामाजिक स्थिति के सूचक तथा सामाजिक अंतःक्रिया को नियंत्रित करने वाले वर्ण तथा जाति जैसे विभेद मौजूद हैं। अशराफ और अजूलाफ श्रेणियों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। शरीफ जात (उच्च जाति जैसा वर्ग) और अजलाफ जात (आम, नीची जाति जैसा वर्ग) की बात करना आम है। ये विभेद विवाह, अंतर्भोज

तथा समारोहों और अन्य सामाजिक आयोजनों में भागीदारी जैसी अंतर्समूह सामाजिक अंतर्क्रिया का निर्धारण करते हैं। मूल याद किये जाते हैं और हिंदू धर्म से इस्लाम धर्म अंगीकार करने वाले अब भी बड़े पैमाने पर अपने पुराने जातिगत व्यवसायों में ही लगे हैं। मुगलकाल में सैयद, शेख, मुगल और पठानों के विभाजनों की समानता प्रायः हिंदू समाज के वर्ण विभाजनों से दिखायी जाती थी और भारत के कुछ भागों में हिंदू धर्म से इस्लाम ग्रहण करने वाले इन्ही विभाजनों में से किसी एक में शामिल होना आवश्यक मानते थे। इस्लाम के प्रति यह ठीक है या नहीं यह एक अलग प्रश्न है कितु यह तो एक तथ्य है ही कि ऐसा होता है। सैयद पैगम्बर की बेटी के जरिये उनके परिवार के वंशज हैं। वे अरब मूल के हैं। लेकिन इस्लाम में धर्मांतरित अनेक उच्चतर जातियां इस प्रस्थिति का दावा करती हैं। धर्मांतरित ब्राह्मणों ने दावा किया कि उनकी सैयद प्रस्थिति की पुष्टि सम्राट अकबर ने की थी। शेख भी अरब मूल के हैं यद्यपि वे पैगंबर के वंशज नहीं हैं। धर्मांतरितों की पहली पीढ़ी भी खुद को शेख कहती है। दिल्ली का शासक वंश 'मुगल' शेख के बाद आता था। वे तुर्की मूल के थे लेकिन तुर्की के आटोमन शासकों से स्वयं को अलग दिखाने के लिए उन्होंने 'मुगल' पदनाम ग्रहण कर लिया था। पठान अफगान मूल के थे यद्यपि उनमें से अनेक ने, जिनका अफगानिस्तान से दूर-दूर तक कोई नाता नहीं था, पठान होने का दावा किया। स्तर कूद और सामाजिक सीढ़ी चढ़ने का काम काफी हुआ। यह प्रवृत्ति एक चुटकुले मे, जो बहुत सुरुचिपूर्ण नहीं है, अभिव्यक्त हुई है : 'पिछले साल मैं जुलाहा था; इस साल शेख हूं; और अगले साल अगर फसल अच्छी हुई, मैं सैयद बन जाऊंगा।' उच्चतर जातियां–राजपूत, जाट और अहीर–अपनी पहचान बनाये रहीं। जुलाहा, तेली, भाट, कलाल और भिश्ती जैसी अनेक जातियों की तुलना कई दृष्टियों से हिदू जातियों के साथ की जा सकती हैं जिनके विशिष्ट व्यवसाय हैं तथा प्रस्थितिक्रम है। जाति के बने रहने से मुसलमान धर्मशास्त्री तथा सामाजिक सुधारक चिंतित हैं किंतु कट्टरपंथ की ताजा लहर भी इसे नष्ट नहीं कर पायी है।

भारतीय मूल के धर्मो–जैन, बौद्ध तथा सिख–में जाति के जारी रहने के साक्ष्य हैं। नव बौद्धों को स्वयं को अपनी पूर्व जाति प्रस्थिति से असंबद्ध करना कठिन लग रहा है। सिख धर्म का समतावादी लोकाचार जाति यहां तक कि अस्पृश्यता की भी उपस्थिति से भोथरा हो रहा है।

वर्ण और जाति की धारणाओं की पकड़ ऐसी है कि उसने हिंदू धर्म से आगे बढ़ अन्य धर्मो पर भी अपनी जकड बना ली है। जाति और वर्ण को भारतीय

समाज के लगभग सभी हिस्सों में सक्रिय देखा जा सकता है। समाज सुधारक भी इस रुझान को बदल पाने में असफल रहे हैं हालांकि कुछ समाज सुधारकों ने इसे बदलने के लिए कड़ी मेहनत की थी।

समकालीन भारतीय समाज इस समय एक अजीब स्थिति में है। वह आधुनिकता और परंपरा—दो विरोधी सिरों—की ओर खीचा जा रहा है। परंपरा और आधुनिकता दोनों उसे अपनी अपनी ओर विपरीत दिशाओं में खींच रही हैं। उनकी मुठभेड से कुछ अजीबोगरीब नतीजे सामने आये हैं। देश ने एक ओर लोकतंत्र, समानतावाद, धर्मनिरपेक्षता तथा सामाजिक न्याय की विचारधारा स्वीकार की है और उसे प्रोन्नत कर रहा है, दूसरी ओर आदिकालीन निष्ठाएं अब भी कायम हैं, शोषणमूलक संरचनाओं को क गी कोई गंभीर चुनौती नहीं मिली, परंपरा की विकल स्मृति को राजनीतिक लाभ के लिए इस्तेमाल किया जाता है तथा धार्मिक पुनरुत्थानवाद और परवर्ती कट्टरपन से कठोरतापूर्वक नहीं निपटा गया। भावनात्मक तथा बौद्धिक जागरूकता के स्तर पर वर्ण और जाति के ढांचे के भीतर अंतर्निहित असमानता तथा अमानवीयता की निंदा की गयी है लेकिन इसे ढहाने का कोई सार्थक या महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया गया है। देश की लगभग आधी आबादी, जिसमें मुख्यतः अनुसूचित जनजातियां, अनुसूचित जातियां, तथा अन्य पिछड़े समुदाय हैं, संपूर्ण कृषि भूमि में केवल दस प्रतिशत की हिस्सेदार है। निर्धन बंधुआ मजदूर तथा अपमानजनक धंधों में लगे लोगों के पास अपनी दुर्भाग्यपूर्ण दुर्दशा से मुक्ति पाने के रास्ते नहीं हैं। बंधुआ मजदूरी उन्मूलन का अर्थ यही है कि बंधुआ का रूप बदल गया है। भारत में अब भी 41,00,000 खुले पाखाने हैं। एक जाति विशेष वहां से मल निकालती है और बंद डिब्बों अथवा खुले टोकरों में उस मल को अपने सिर पर ढोकर अन्यत्र ले जाती है। वर्ण और जाति के राजनीतिकरण के कारण 'निम्नतर' जातियों पर भांति-भांति के अत्यचार हो रहे हैं। अपनी दशा सुधारने के लिए उन्हें अपनी चुनावी ताकत का इस्तेमाल करने से रोका जा रहा है। कुछ क्षेत्रों में जाति का वर्चस्व कमजोर हुआ है लेकिन फिर दूसरे क्षेत्रों में इसने खुद को और ताकतवर और दुर्भेद्य बना लिया है। भारतीय समाज, अर्थशास्त्र, तथा राजनीति ने निम्नीकृत, कमजोर, तथा असुरक्षितों के हित में केवल जबान हिलाई है लेकिन वे उनकी समस्याओं के निदान का कोई सार्थक, व्यावहारिक हल ढूंढ़ पाने में असफल रहे हैं। इसका स्पष्ट, दृष्टिगोचर परिणाम है, असंतोष तथा प्रतिरोध। दोनों का औचित्य समझा जा सकता है। परंपरा की अपनी उपयोगिता है किंतु, उसके प्रति सम्मान को शोषण, असमानता तथा

अन्याय को जारी रखने का बहाना नहीं बनाया जा सकता। वर्ण और जाति की गतिविधियों में कुछ बदलाव आया है किंतु यह बहुत ही धीमा तथा बहुत ही कम है। कानून ने एक हाथ से जो दिया है—अस्पृश्यता तथा बंधुआ मजदूरी का उन्मूलन, शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र में मुआवजे के रूप में आरक्षण, विवाह में जीवनसाथी चुनने की आजादी—उसे सतर्कता में ढीलेपन तथा अप्रभावी अमल की 'कृपा' से दूसरे हाथ से छीन लिया गया है।

4

परिवार तथा नातेदारी व्यवस्था

इस अध्याय में हम परिवार तथा नातेदारी के व्यापक संबंधों के रूपो तथा प्रकार्यो पर चर्चा करेंगे। इन दोनों के बीच विवाह का भी संक्षिप्त विवरण होगा क्योंकि परिवार की संरचना तथा नातेदारी व्यवस्था दोनों के लिए इसके महत्वपूर्ण निहितार्थ हैं।

परिवार

परिवार सामान्य रूप से प्रचलित शब्द है तथा अपने साधारण अर्थ में इसे अच्छी तरह समझा भी जाता है। यह द्योतक है एक सार्वभौमिक, स्थायी तथा व्यापक संस्था का जिसकी विशेषता है सामाजिक दृष्टि से अनुमत यौन संबंध तथा प्रजनन, समान घर, आवास और घरेलू सेवाएं तथा आर्थिक सहयोग। लेकिन यहीं से कठिनाई शुरू होती है। प्राचीन काल में नियोग व्यवस्था स्त्री को इस बात की अनुमति देती थी कि वह संतानोत्पत्ति के उद्देश्य विशेष के लिए अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति के साथ यौन संबंध स्थापित कर ले। इस पिता का, बाद में, उस स्त्री अथवा अपनी सतान से कोई संबंध नहीं रहता था। वह संतान स्त्री के पति वंश में शामिल कर ली जाती थी, उसके ही घर में रहती थी तथा पारिवारिक सुविधाओं में हिस्सा बंटाती थी। अतीत में नायरों में 'ताली संस्कार' के माध्यम से अनेक पुरुष एक स्त्री से यौन संपर्क बना सकते थे और परिणामस्वरूप 'संबंधम' गठबंधन में बंध सकते थे। उपयुक्त कर्मकांडीय प्रस्थिति वाला कोई व्यक्ति अपनी 'उपजाति' की ओर से स्त्री के गले में ताली—गले में पहनी जाने वाली जंजीर जिसमें लाकेट भी पड़ा होता है—बांध देता है जिससे उसे तथा उस समूह को संबंद्ध स्त्री पर यौन अधिकार प्राप्त हो जाता है। ये अधिकार उच्चतर

जाति के ऐसे किसी भी सदस्य को मिल जाते थे जो उस स्त्री की ओर आकृष्ट हो तथा उस स्त्री को स्वीकार्य हो। 'संबंधम' संबंध वाले पुरुषों को स्त्री पर पति या पिता के रूप में कोई एकांतिक अधिकार नहीं होता। यदि स्त्री चाहे तो वह उन्हें दिया गया यौन अधिकार कभी भी वापस ले सकती थी। उसकी संतान पर उसके तारावाड़ (मातृवंशी नातेदारी की गृहस्थी) का अधिकार था। मासिक धर्म प्रारंभ होने से पूर्व किया जाने वाला ताली संस्कार लडकी की उपयुक्त 'जातियों' के पुरुष समूह के साथ विवाह की स्थिति का प्रतीक था। संतान के जन्म के समय स्वीकार्य पदक्रम के किसी व्यक्ति को प्रसव के समय होने वाला खर्च देना पड़ता था। कर्मकांडीय पिता तथा 'कानूनी जनक' का यह प्रावधान सतान को वैधता प्रदान करता था तथा स्त्री को बहिष्कृत होने की बदनामी से बचाता था। इस अर्थ में कि यह बच्चे को वैधता प्रदान करता है इस प्रकार के संबंध को विवाह कहा जा सकता था, किंतु विवाह की दो अन्य विशेषताएं—समान आवास तथा आर्थिक सहयोग (घरेलू सेवाओं सहित)—नदारद थीं। यह दांपतिक इकाई अनिवार्य रूप से एक घरेलू समूह तथा गृहस्थी न थी। लक्षद्वीप द्वीपसमूह में तथा मध्य केरल के कुछ मातृवंशी समूहों में पति रात्रिकालीन मेहमान से अधिक कुछ नहीं है जिसे स्त्री के साथ केवल संभोग मात्र का अधिकार है किंतु उसके लिए कोई आर्थिक भूमिका या अधिकार निर्दिष्ट नहीं हैं। नायर-नंबूदिरी 'संबंधम' में घरेलू कामकाज या आर्थिक गतिविधि की तो बात क्या नंबूदिरी अपनी पत्नी या बच्चों के साथ भोजन भी नहीं कर सकता था। इन अपवादों ने मानव विज्ञानियों को काफी परेशान किया है तथा विवाह (और परिणामतः परिवार) की न्यूनतम परिभाषा को लेकर चल रहा वाद-विवाद अब भी अनिर्णीत है। लेकिन इससे हमें भटकना नहीं चाहिए। जिस संयोग से उत्पन्न संतानों को वैधता प्रदान करने वाली सामाजिक अनुमति प्राप्त हो उसे विवाह माना जाना चाहिए। विवाह और परिवार का साथ अनिवार्य नहीं है। पत्नियां अपने मातृवंशी परिवार के साथ बनी रह सकती हैं।

भारतीय समाज में परिवार के रूपों में बहुत विविधता है। इन रूपों को अनेक भिन्न-भिन्न आधारों यथा वंशनाम, आवास, सदस्यता तथा यौन साथियों की संख्या के आधार पर अलग किया जा सकता है।

भारत के अधिकतर समुदायों में वंशनाम पिता की परंपरा में तलाशा जाता है। इसे पितृवंशी वंशनाम कहा जाता है। मातृ समाजों—उत्तर पूर्व में गारो, खासी और प्नार तथा दक्षिण भारत के नायर, माप्पिला, लक्षद्वीपवासी और अनेक आदिवासी तथा गैर-आदिवासी समूह—का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।

इन समाजों में वंशनाम माता की परंपरा से मिलता है। इन दो मुख्य व्यवस्थाओं के अतिरिक्त ऐसे सजातीय समुदायो—ऐंग्लो इंडियन तथा कुछ जनजातीय समूह—के उदाहरण भी हैं जिनमें उभयवाही प्रवृत्तियां हैं। वे पिता से नाम ले सकते हैं लेकिन अपना वंशनाम खोजने के लिए वे मां की परंपरा की ओर भी जा सकते हैं। पितृवंशी तथा मातृवंशी शब्दों के साथ-साथ पितृसत्तात्मक तथा मातृसत्तात्मक शब्दों का प्रयोग करने की भी एक प्रवृत्ति देखी जाती है। मातृसत्तात्मक शब्द का प्रयोग हलके-फुलके ढंग से किया जाता है और यह भ्रम उत्पन्न करता है। पितृसत्तात्मक शब्द का प्रयोग पुरुष प्रधान संरचनाओं के लिए होता है और वस्तुतः यह भारतीय समाज के बड़े हिस्से का प्रतिमान (नार्म) हैं किंतु मातृसत्ता (स्त्रीप्रधान व्यवस्था) का अस्तित्व नही है जैसाकि हम छठे अध्याय 'स्त्री-पुरुष संबंध' में देखेंगे। मातृवंशी समूहों में स्त्रियां महत्वपूर्ण हैं लेकिन कई क्षेत्रों में वे प्रभावपूर्ण निर्णायक नहीं हैं। प्रमुख प्रबंधन प्रकार्य पुरुष सदस्यों के हाथ में ही रहते हैं।

विवाह के बाद के आवास के संरूपों में पर्याप्त विविधता है। जब पत्नी अपने पति के पिता के घर (अथवा पितामह के या पिता के न होने पर चाचा के घर) रहने जाती है तो परिवार पितृस्थानीय होता है। इसके विपरीत जब पति अपनी पत्नी की माता के परिवार के साथ रहने लगता है तो यह परिवार मातृस्थानीय कोटि में आता हैं। पितृस्थानीय आवास भारत में सबसे ज्यादा प्रचलित है। मातृस्थानीय आवास खासी, नायर तथा अन्य अनेक मातृवंशी समूहों में मिलते हैं। अनेक आदिवासी समूहों में एक नवस्थानीय आवास (नवविवाहित युगल के लिए एक नया घर) को प्राथमिकता दी जाती है यद्यपि उनमें अधिक प्रचलित यह है कि एक पितृस्थानीय या मातृस्थानीय परिवेश में एक अवधि बिता लेने के बाद ही वे नया घर बसाते हैं। लक्षद्वीप तथा मध्य केरल में अनुमत आवास संरूप द्विस्थानीय है—पति अपनी माता के तारावाड़ में तथा पत्नी माता के तारावाड़ में ही बने रहते है।

भारत को प्रायः 'संयुक्त परिवारों' का देश कहा जाता है। सामाजिक मानवविज्ञानी तथा समाजशास्त्रीय साहित्य में इस शब्द का प्रयोग कम होता है। मूल तथा विस्तारित परिवार के बीच में भेद किया जाता है। विस्तारित परिवार की इकाइयों का ही उल्लेख सामान्य तथा संयुक्त परिवार के रूप में किया जाता है। मूल परिवार का अर्थ है एक विवाहित युगल और उनके बच्चे। दूसरी ओर विस्तारित परिवार एक बड़ा समूह है जिसमें वंशमार्ग से संबंधित दो या तीन

पीढ़ियां, उनकी पत्नियां और बच्चे शामिल होते हैं। मातृवंशी विस्तारित परिवारों में विवाहित स्त्रियों के पति सम्मिलित नही होते। किसी एक समय मूल परिवारों का अनुपात ज्यादा होता हैं किंतु अधिकतर मूल परिवार बढ़कर विस्तारित परिवार बन जाते हैं और बाद में टूटकर अपूर्ण विस्तारित परिवार या मूल परिवार बन जाते हैं। यह स्थिति दुर्लभ है कि दो या तीन पीढ़ियों के सभी या अधिकतर सदस्य साथ रहते हों। एक ही घर में रहने वाले सदस्यों की संख्या की कुछ स्पष्ट सीमाएं होती हैं। प्रायः घरेलू विवाद के कारण लोग अलग घर बसा लेते हैं। इन्हें घरेलू समूह अथवा कुटुम्ब (हाउसहोल्ड) कहा जाता है। एक बड़ा विस्तारित परिवार साथ रह सकता है और संयुक्त रूप से कोई आर्थिक व्यवसाय भी कर सकता है। किंतु अपनी कई मूल इकाइयों के लिए उसमें अलग-अलग घरेलू प्रबंध हो सकते हैं। धीरे-धीरे उनके चूल्हे अलग हो सकते हैं और वे खाना पकाने और खाने का अपना स्वतंत्र इंतजाम कर लेते हैं। जहां मूल परिवार अलग-अलग रहते हैं और अलग-अलग काम करते हैं वहां एक तरह की संयुक्तता कायम रखी जाती हैं किंतु जहां पुरखों की संपत्ति का औपचारिक बंटवारा नहीं होता वहां सभी सदस्य विवाह, मृत्यु तथा अन्य सभी महत्वपूर्ण समारोहों के अवसर पर इकट्ठा होते है। परिवार में एका तथा परस्परनिर्भरता जैसे मूल्यों का बहुत गुणगान होता है किंतु कुटुम्ब में उनकी अपनी राजनीति और पेचीदा समस्याएं होती ही हैं।

यौन साथियों की संख्या के आधार पर भी परिवारों का वर्गीकरण किया जा सकता है। एकविवाह (मोनोगैमी) में एक व्यक्ति की एक समय पर एक ही पत्नी होती है। विधवा पुनर्विवाह अधिनियम 1856 पारित होने से पूर्व हिंदुओं की अनेक उच्च जातियों की विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं थी। उनके लिए यह शुद्ध एकविवाह था जबकि पश्चिमी समाजों मे और काननू के जरिये भारतीय सहित अन्य अनेक समाजों मे भी क्रमिक एकविवाह (सीरियल मोनोगैमी) प्रचलित है। बहुविवाह को दो श्रेणियों में उपविभाजित किया जा सकता है : बहुपत्नी प्रथा तथा बहुपति प्रथा। बहुपत्नी प्रथा मे एक पति के दो या दो से अधिक पत्नियां हो सकती हैं। बहुपति प्रथा में एक स्त्री के दो या अधिक पति हो सक़ते हैं।

भारत में जनजातियों, हिंदुओं और मुलसमानों के बीच बहुपत्नी प्रथा का व्यापक चलन था। हिंदू विवाह अधिनियम 1955 के तहत हिंदुओं से एकविवाह के नियम का पालन करना अपेक्षित है किंतु जनगणना के आकड़ों से प्रतीत होता है कि सीमित पैमाने पर बहुपत्नी प्रथा अब भी जारी है। अनुसूचित जनजातियों को उनके अपने प्रथागत कानून का पालन करने की अनुमति है। मुस्लिम पर्सनल ला

एक संवेदनशील मुद्दा है। उसे भारत में छुआ नहीं गया है। इसमें बहुपत्नी प्रथा अनुमत है यद्यपि अनेक मुस्लिम देशों (पाकिस्तान सहित) ने बहुपत्नी प्रथा की बुराई के उन्मूलन के लिए कानून बनाये हैं। किंतु सभी मुसलमान पुरुष चार पत्नियों से विवाह नहीं करते। भारत के मुसलमानो में बहुपत्नी विवाह की घटनाएं 1931-40 में 7.29 प्रतिशत, 1941-50 में 7.06 प्रतिशत और 1951-60 में 4.31 प्रतिशत थीं। ये आंकड़े लगभग एक लाख विवाहों के सर्वेक्षण पर आधारित हैं। ये आंकड़े बहुपत्नी विवाहों में और इस प्रकार बहुपत्नी परिवारों में एक सुनिश्चित ह्रास प्रदर्शित करते हैं।

बहुपति प्रथा कुछ छोटे स्थानो में सीमित है। उत्तर में यह प्रथा उत्तरप्रदेश के खासा (जौनसारी) और हिमाचल प्रदेश में किन्नौर तथा लाहुल और स्पीति के लोगों मे प्रचलित है। अनुसूचित जाति घोषित कर दिए जाने के कारण वे हिंदू कानून की परिधि में नहीं आते जिसके तहत द्विविवाह निषिद्ध है। उनके यहां भ्रातृ-बहुपति प्रथा प्रचलित है। उनके यहां जब सबसे बड़ा भाई किसी स्त्री से विवाह करता है तो उसके साथ ही सभी छोटे भाई भी उस स्त्री के पति बन जाते हैं। भाइयों के साथ एक से अधिक स्त्रियों का विवाह हो सकता है। ऐसी स्थिति को 'समूह' विवाह माना जा सकता है। दक्षिण भारत के टोडाओं मे स्त्री के पतियों का परस्पर भाई होना जरूरी नही है। यह अभ्रातृबहुपति प्रथा है। इस तरह के समागम से पितृत्व का सवाल अनिवार्य रूप से उठता है। इस समस्या का समाधान 'धनुष और वाण' समारोह से किया जाता है। इस समारोह में स्त्री के पतियों में से एक यह संस्कार करता है किंतु यदि स्त्री विवाह से पहले गर्भ धारण करती है या किसी अन्य कारणवश उसका कोई भी पति यह अनुष्ठान करने मे असमर्थ है तो एक उपयुक्त समूह (अर्थात ऐसा समूह जिसमें उसका विवाह हो सकता है) का कोई भी व्यक्ति यह अनुष्ठान कर सकता है। प्रथम गर्भधारण पर संस्कार करने वाला व्यक्ति कुछ संबंधियों के साथ स्त्री को निकटवर्ती जंगल मे ले जाता है। वे एक पेड़ के तने में एक वर्गाकार आला बनाते है। उसमें एक छोटा जलता हुआ दीपक रख दिया जाता है। पुरुष लकड़ी का एक छोटा धनुष तथा कुछ बाण बनाकर स्त्री को देता है। स्त्री उन्हें कोमलतापूर्वक उठाकर अपने माथे से लगाती है। उसके बाद वह जलते हुए दीपक को एकटक तब तक देखती रहती है जब तक उसकी लौ बुझ नहीं जाती। इसके बाद पुरुष भोजन तैयार करता है, दोनों भोजन करते हैं और रात साथ बिताते हैं। अगले दिन वे अपने गांव लौट आते हैं। स्त्री के गर्भवती होने पर जो पति यह अनुष्ठान करता है वही बच्चे का पिता हो जाता

है। इस बच्चे के बाद जन्म लेने वाले अन्य सभी बच्चों का भी पिता वही माना जाता है। यहां तक कि उसकी मृत्यु के बाद भी उस स्त्री से जन्मे बच्चों का पिता उसे ही माना जाता है। किंतु यदि कोई अन्य पति यह अनुष्ठान संपन्न कर दे तो उस बच्चे तथा परवर्ती बच्चों का पिता उसे माना जाता है। माना जाता है कि केरल के नायरों में भी बहुपति प्रथा प्रचलित थी लेकिन ऐसा कम से कम सौ वर्ष पूर्व था। माना जाता है कि उत्तर भारत की एक महत्वपूर्ण भूस्वामी जाति में बहुपति प्रथा के चिह्न मिलते है। किसी व्यक्ति के छोटे भाइयों को उसकी पत्नी के साथ सहवास की अनुमति है। कुछ विवरणों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पति का बड़ा भाई भी इस अनुग्रह का दावा कर सकता है। स्त्री के विधवा हो जाने की स्थिति में 'करेवा' रिवाज के अनुसार पति के छोटे भाइयों में से कोई एक उस पर अपनी पत्नी होने का दावा कर सकता है। कोई छोटा भाई न होने की स्थिति में बड़ा भाई उसे अपनी पत्नी बना सकता है। उस पर श्वसुर भी अपना दावा ठोंक सकता है। कुछ तो अपना अधिकार स्थापित करने के लिए अदालत तक चले जाते हैं। किंतु इस दृष्टिकोण का कड़ा प्रतिवाद हुआ है तथा सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण इस प्रथा के अस्तित्व से इन्कार किया गया है। इस जाति के शिक्षित वर्गो में यह प्रथा समाप्त हो रही है किंतु शिक्षित वधुएं यह देखकर स्तब्ध रह जाती हैं कि उनके देवर अब भी उनसे पारंपरिक मांगें करते हैं।

परिवार के भीतर के अंतरवैयक्तिक संबंधो को प्राय. उन प्रतिमानों के संदर्भ में व्याख्यायित किया जाता है जिनका सवंधों की कुछ श्रेणियों जैसे माता-पिता और पुत्र के बीच, भाइयों-वहनों के बीच, बहनों के बीच, सास-बहू के बीच, पति-पत्नी के बीच, तथा जीजा-साली, देवर-भाभी के बीच के संवंधों में पालन किया जाना चाहिए। ये प्रतिमान उपयुक्त व्यवहार का आदर्श रूप बताते हैं। लेकिन इन प्रतिमानों के पालन में पर्याप्त भिन्नताएं होती हैं। कोई दो पुत्र एक सांचे में ढले नहीं होते, न ही कोई दो गृहस्थियां समान होती हैं। अपने भिन्न समाजीकरण के कारण बहुएं अपने साथ भिन्न अभिवृत्तियां तथा भिन्न व्यवहार संरूप लाती हैं। इस बात को स्वीकार किया जाता है तथा भिन्नताओ के समायोजन के प्रयास किये जाते हैं। प्रतिमानों—आयु, लिंग, तथा नातेदारी पैमाने में दूरी—के पीछे अंतर्निहित नियम महत्वपूर्ण हैं। आयु को आदर देना अपेक्षित है। पितृवंशी समूहों में स्त्रियों से अपेक्षित है कि वे पुरुषों को वरीयता दें। नातेदारी पैमाने मे दूरी का पालन करना आवश्यक है। स्त्री से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने पति के पिता, चाचाओं, मामाओं, फूफाओं तथा बड़े भाइयो के निकट संपर्क

से बचें। पारंपरिक उत्तर भारतीय परिवारों में स्त्री को इन लोगों की उपस्थिति में अपना चेहरा ढंकना पड़ता है। अगर कभी उसे इन लोगों से बात करनी ही पड़े तो उससे यह अपेक्षित है कि वह अपनी बात न्यूनतम शब्दों में कहे तथा बोलने का तरीका उचित रूप से संयमित हो। अपनी ही आयु के या अपने से छोटे चाचाओं, फूफाओं को भी उनकी श्रेष्ठतर नातेदारी प्रस्थिति प्रदान की जाती है किंतु संबंधों की कुछ विशेष श्रेणियों के बीच घनिष्ठता (हंसी-मजाक) की अनुमति है। उदाहरण के लिए उत्तर भारत में पुरुष और उसकी पत्नी की छोटी बहनों के बीच तथा स्त्री और उसके पति के छोटे भाइयो के बीच 'हंसी-मजाक के रिश्ते' को मान्यता प्राप्त है। यहां यह उल्लेखनीय है कि समय बीतने के साथ साथ कुछ संबंधों की ऊष्मा खत्म हो जाती है। स्थानगत दूरी से भी संबंधों के बीच परस्परक्रिया की प्रकृति बदल जाती है। संबंध का रूप तो बना रहता है किंतु निकटता का भाव तिरोहित हो जाता है।

आधुनिक समय में परिवार की एकजुटता तथा उसके भीतर संबंधों की गुणवत्ता पर अनेक कारकों का प्रभाव पड़ा है। शिक्षा, गैर-पारंपरिक व्यवसाय, आयगत असमानताएं तथा स्थानगत दूरी अधिक महत्वपूर्ण कारक है जो संबंधों पर अपना प्रभाव डाल रहे हैं और उन्हें परिवर्तन की दिशा में धकेल रहे हैं। एक घर में रहने की संस्कृति, अकेली स्त्री की परिघटना, तथा अविवाहित मातृत्व का अभी भारत मे बड़े पैमाने पर आगमन नहीं हुआ है। किंतु कम से कम नगरीय परिवार तो रूपांतरण की प्रक्रिया से गुजर ही रहा है।

समय के साथ होने वाले काफी महत्वपूर्ण परिवर्तनों के बावजूद परिवार अब भी कुछ महत्वपूर्ण प्रकार्य कर रहा है। इसके माध्यम से सदस्यता का प्रतिस्थापन तथा समाज का भौतिक अनुरक्षण सुनिश्चित होता है। यह प्रजनन को विनियमित करता है तथा अस्तित्व की न्यूनतम जरूरतें—यथा पोषण, आश्रय, रोगी की देखभाल—पूरी करता है। यह छोटों का समाजीकरण करता है। इसी के परिवेश के भीतर वे समाज के प्रतिमानों को ग्रहण करते हैं तथा व्यवहार के उपयुक्त रूपों के अनुरूप आचरण करना सीखते हैं। परिवार अपने सदस्यों विशेपकर कम उम्र सदस्यो के बीच व्यवहार के विचलनकारी रूपों पर नियंत्रण करता है। परिवार अपने सदस्यों को आवश्यक भावनात्मक सहारा—स्नेह, प्रशंसा और प्रोत्साहन—देता है। सबसे ऊपर, यह एक महत्वपूर्ण आर्थिक इकाई है। यह उत्पादन और उपभोग दोनों की एक इकाई हुआ करता था। नगरीय परिवार अब केवल उपभोग की इकाई बनने की ओर प्रवृत्त हो रहा है क्योंकि वह अपनी बाहर काम करने से प्राप्त

आय पर निर्भर है लेकिन कुल मिलाकर भारत में परिवार अब भी उत्पादन की भी एक महत्वपूर्ण इकाई है। समाजिक संगठन की एक इकाई के रूप में परिवार के स्थायित्व में इन प्रमुख प्रकार्यों का अपना योगदान है।

विवाह

विवाह के परिणाम के रूप में परिवार अस्तित्व में आता है। यह विवाह के जरिए आगे भी बढ़ता है। इस प्रकार परिवार के संदर्भ में विवाह के महत्वपूर्ण निहितार्थ हैं। यह नातेदारी व्यवस्था के संजाल को भी प्रभावित करता है। परिवार और नातेदारी दोनों को भली प्रकार समझने के लिए विवाह पर विचार करना अनिवार्य है।

परिवार के संदर्भ में विवाह के कुछ पक्षों पर पहले ही चर्चा की जा चुकी है। यहां इससे संबद्ध अन्य प्रमुख मुद्दों पर विचार किया जायेगा।

पहले हम उन समूहों पर विचार करेंगे जिनमें कोई व्यक्ति विवाह कर सकता है अथवा नही कर सकता है। अंतर्विवाह उस समूह को परिभाषित करता है जिसमें होने वाले विवाह सामाजिक दृष्टि से मान्य होते हैं। ये सामान्यतः जनजाति अथवा जाति हैं। लेकिन कुछ मामलों मे अपवाद भी होते है। 'अनुलोम विवाह' एक निम्नतर जाति की स्त्री के एक उच्चतर जाति के पुरुष से विवाह की अनुमति देता है। किंतु यह बात संस्कृति परिभापित करती है कि इस प्रकार के विवाह में जाति सोपान में कितने नीचे जाया जा सकता है। सामाजिक मानवविज्ञान तथा समाज-विज्ञान की तकनीकी भापा में इस प्रकार के विवाह को 'हाइपरगैमी' कहा जाता है। प्रतिलोम विवाहों में उच्च जाति की स्त्री निम्नतर जाति के पुरुष से विवाह कर सकती है। इसे 'हाइपोगैर्मी' कहते हैं। वे कौन से समूह हैं जिनमें इस तरह के गठबधन बिना किसी सामाजिक भर्त्सना के हो सकते हैं, यह बात स्थानीय तथा क्षेत्रीय परंपराओ के आधार पर निश्चित होती है। मुसलमानों और ईसाइयों में जाति को औपचारिक मान्यता नहीं दी गयी है तथा सैद्धांतिक दृष्टि से कोई मुसलमान किसी भी मुसलमान से विवाह कर सकता है तथा कोई ईसाई किसी भी अन्य ईसाई से विवाह कर सकता है। किंतु जैसाकि हम देख चुके हैं अशराफ और अज्लाफ के भेद पर ध्यान दिया जाता है और धर्मान्तरित व्यक्तियों की मूल जातियां भुलायी नहीं जातीं। ईसाई, विशेपकर दक्षिण भारत में अपने पूर्वजों की जाति की स्मृति संजोए रहते हैं। इस तरह के वैवाहिक विज्ञापन अक्सर दिखायी पड़ जाते हैं जिनमें भावी वर को 'ब्राह्मण कैथलिक' अथवा 'सारस्वत, गोआ का

ईसाई' बताया जाता है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि हिंदुओं का एक छोटा सा वर्ग जातिगत भेदों को अनदेखा करता है जैसाकि कुछ उन वैवाहिक विज्ञापनों से स्पष्ट है जिनमें 'उपजाति का बंधन नहीं', अथवा 'जाति का बंधन नहीं' जैसे वाक्यांश होते हैं। वैवाहिक संबंध तय करने में अदृश्य वर्ग अवरोधक की भी भूमिका होती है।

बहिर्विवाह उन श्रेणियों को सुनिश्चित करता है जिनमें विवाह नहीं हो सकता। हिंदू अपने गोत्र के भीतर विवाह नहीं कर सकते क्योंकि माना जाता है कि एक गोत्र के लोग एक ही पुरखे की संतान हैं। सपिंडों के बीच भी विवाह निषिद्ध है। 'सपिड' शब्द के दो अर्थ हैं · वे जो मृतक को पिड–चावल के लड्डू–दान कर सकते हैं, और वे जिनमें एक ही शरीर के अंश हैं। गौतम की टीका के अनुसार विवाह संबंध के संदर्भ में पुरुप मार्ग की सात पीढ़ियां तथा माता की ओर की पांच पीढ़ियां 'सपिंड' होती है। अन्य टीकाकारों ने पीढ़ियों की संख्या कम करने का प्रयास किया है। हिंदू विवाह अधिनियम 1955 के अनुसार पिता के पक्ष से पांच पीढ़ियों के भीतर तथा माता के पक्ष से तीन पीढ़ियों के भीतर तक संबंधित दो व्यक्तियों का विवाह नही हो सकता। ऐसा तभी संभव है जब स्थानीय रीति रिवाज इस तरह के विवाह की अनुमति देते हों। जनजातियों में भी विवाह गोत्र के बाहर ही होता है। उत्तर भारत के कुछ हिस्सों में क्षेत्रीय बहिर्विवाह होता है : वधुएं एक दिशा से ली जाती हैं और दूसरी दिशा में दी जाती हैं। बहिर्विवाह के नियमों का अब भी काफी सख्ती से पालन किया जाता है।

विवाह तय करने का काम बहुत सरल या बहुत जटिल और विस्तृत हो सकता है। जनजातीय समाज में लड़का और लड़की घर से भाग सकते हैं। कुछ समय बाद घर लौटने पर उन्हें एक छोटी सी दावत देनी पडती है। उसके बाद वे पति और पत्नी मान लिये जाते हैं। निर्दिष्ट नोटिस देने के बाद भारत का कोई युगल सिविल विवाह अधिनियम (सिविल मैरिज एक्ट) अथवा विशेष विवाह अधिनियम (स्पेशल मैरिज एक्ट) के अंतर्गत विवाह कर सकता है। उन्हें एक छोटी सी रकम शुल्क स्वरूप देनी पड़ती है और विवाह के दो साक्षी होने जरूरी हैं। आर्य समाज तथा मंदिर में किये गये विवाह भी हिंदुओं में लोकप्रिय हो रहे हैं। किंतु माता-पिता की ओर से तय किये जाने वाले विवाहों में सावधानीपूर्ण गणना तथा मोल-तोल की जरूरत होती है। जहां प्राथमिकता प्राप्त श्रेणियों जैसे मुसलमानों मे चचेरे-मौसेरे भाई बहन–दो भाइयों अथवा दो बहनों के पुत्र और पुत्रियों–या कुछ जनजातियों तथा दक्षिण भारत और महाराष्ट्र की कुछ जातियों में फुफेरे-ममरे भाई

बहन–भाइयों और बहनों के बच्चो–के बीच विवाह होना होता है, वहां कम कठिनाई होती है।

आंध्रप्रदेश, कर्नाटक, तथा तमिलनाडु के कुछ हिस्सों में कुछ समूह पुरुष और उसकी बड़ी बहन की वेटी के बीच विवाह को प्राथमिकता देते हैं। इस तरह के विवाहों में अंतर्विवाह के नियमों का कठोरतापूर्वक पालन सुनिश्चित होता है तथा संपत्ति विनिमय के संदर्भ में इसके स्पष्ट आर्थिक लाभ हैं। लड़की के विवाह के अवसर पर उसे दिये गये उपहार और संपत्ति उस समय वापस मिल जाते हैं जब वह अपनी वेटी का विवाह अपने भाई के बेटे अथवा अपने ही छोटे भाई से करती है। नातेदार समूह के बाहर विवाह होने पर अनेक कारकों पर विचार किया जाता है। परिवारों की प्रतिष्ठा, लड़के और लड़की का चरित्र, विवाह पर होने वाला अपेक्षित खर्च (नकद और सामान के रूप में मिलने वाले उपहारों सहित), लड़के और लड़की की जन्मपत्री का मेल आदि। कभी-कभी विवाह संबंधी बातचीत बहुत लंबी खिंचती है और उसमे काफी मोलभाव होता है। जब कोई बड़ी बाधा सामने आ जाती है तो बुजुर्ग और अन्य प्रभावशाली लोग मध्यस्थता के प्रयास करते हैं। समय-समय पर टकराव के बिंदु भी उभरते हैं और जब विवाह समारोह अंततः संपन्न हो जाता है, तब समारोह से सम्बद्ध प्रत्येक व्यक्ति राहत की सांस लेता है।

विवाह का अर्थशास्त्र महत्वपूर्ण है। कुछ आदिवासियों (जनजातियों) मे वधू के माता-पिता को लड़की के विछुड़ने का मुआवजा 'वधू मूल्य' के रूप में दिया जाता है। वधू मूल्य नकदी या सामान के रूप में अथवा नकदी तथा सामान दोनों के रूप में हो सकता है। छोटा नागपुर (बिहार) में ओरांव वधू तथा उसके संबंधियों के लिए वस्त्रों का उपहार ले जाते हैं जबकि हो और मुंडा मवेशियों की एक निश्चित संख्या वधूपक्ष को देते हैं। अरुणाचलप्रदेश में उपहार में मिथुन–अर्धपालतू पशु–दिया जाता है। आओ नगा धान के टोकरे और एक आओ कटार देते है। 'कमेटी आन स्टेटस आफ वीमेन' के तत्वावधान में हुए एक अध्ययन मे 'वधू मूल्य' पर आने वाली लागत मे व्यापक भिन्नता पायी गयी। यह लागत 40 रु. से एक हजार रु. के बीच थी। अध्ययन का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष था–वधू मूल्य की बढ़ती लागत। तमिलनाडु के इरुला पारंपरिक रूप से केवल 25 पैसे खर्च करते थे। अब वे 40 रु. खर्च करते हैं। उड़ीसा के बिंझाल, जो पहले 60 से 100 रु. तक खर्च करते थे, अब 400 रु. खर्च करते हैं। राजस्थान के भील इस मद में 60 से 120 रु. के बीच खर्च करते थे। अब वे 300 से 1,000 तक खर्च करते हैं। यह रिवाज कुछ निम्न जातियो में भी पाया जाता है। अन्य समूहों में वर तथा वधू

दोनों को तथा उनके कुछ निकट संबंधियों को भी उपहार देने का रिवाज है। हिंदुओं में वर की स्थिति विशिष्ट होती है। हिंदू विवाह का एक अनिवार्य संस्कार है वधू के माता-पिता द्वारा 'कन्यादान'—लड़की को दान कर देना। दान के बाद 'दक्षिणा' दी जाती है। दक्षिणा एक और आनुष्ठानिक उपहार है। पारंपरिक 'वरदक्षिणा'—दूल्हे को दिया जाने वाला उपहार—एक सांकेतिक रस्म है। आंध्रप्रदेश की रेड्डी और कम्मा तथा तमिलनाडु की पामगेरी तथा अम्बल्लक्करेर जैसी संपन्न, भूस्वामी जातियां अपनी पुत्रियों को उनके विवाह के अवसर पर नकदी, आभूषण, तथा भूमि देती हैं। नकद रुपए वर अथवा उसके पिता को दिये जाते हैं, आभूषण लड़की के पास रहते हैं और उपहार में मिली भूमि भी उसके ही नाम रहती है। लेकिन ये मामले अपवादस्वरूप हैं। अन्य समूहों में उपहार अपेक्षतः कम होते हैं। स्वतंत्रता के बाद उपहार—दहेज—ने विशाल रूप ग्रहण कर लिया है। अब सामान्यतः उपहार स्वयं अपनी इच्छा से नही दिये जाते बल्कि उनकी मांग की जाती है और उस पर मोलभाव होता है। नवधनाढ्यों ने जबर्दस्त दहेज तथा तड़क-भड़क वाली दावतें देकर स्थिति को और गंभीर बना दिया है। भारतीय प्रशासनिक सेवा तथा अन्य श्रेष्ठ सरकारी सेवाओं के लोग जमकर दहेज पाने की अपेक्षा करते हैं और उन्हें मिलता भी है। अन्य अच्छी सेवाओं के वर्ग भी पीछे नहीं हैं। यह रिवाज मुसलमानों और ईसाइयों में भी प्रचलित है। विवाह के बाद भी लूट-खसोट जारी रहती है। समकालीन भारतीय समाचारपत्रों में वधूदहन तथा दहेज हत्याओं के समाचार निरंतर प्रकाशित हो रहे हैं। जो वधू को सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से दिया जाता था वही अब उसकी जान के लिए खतरा बन गया है।

हिंदू कट्टरपंथ विवाह विच्छेद (तलाक) को मान्यता नहीं देता किंतु कई जातियों का प्रथागत कानून इसकी अनुमति देता है। विवाह विच्छेद की अनुमति देने वाली अधिकतर जातियां द्विज नहीं हैं। जाति अथवा ग्राम पंचायत के हस्तक्षेप से अथवा उसके बिना परस्पर सहमति से संबंध विच्छेद किया जा सकता है। ऐसे संबंध विच्छेद 'छोड़ छुट्टी' अथवा 'छुट्टम छुट्टा' (छोड़ो और मुक्त हो जाओ) कहलाते हैं। कुछ क्षेत्रों और समुदायों में एकपक्षीय विवाह विच्छेद की अनुमति है। मणिपुर में खनिआबा रिवाज के अनुसार कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से अपनी पत्नी को तलाक दे सकता है। इसके लिए उसे कोई कारण नहीं बताना पड़ता। एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार खानदेश के राजपूत गुजरातियों, पखाइयों तथा गोरखपुर के वैश्यों में भी पति द्वारा पत्नी को छोड़ दिये जाने का नतीजा विवाह विच्छेद होता

है। सामान्यतः देश के सभी भागों में विशेषकर दक्षिण भारत में पारंपरिक पंचायतों के हस्तक्षेप से विवाह विच्छेद पत्र पाये जा सकते हैं। 1968 में सर्वोच्च न्यायालय ने ऐसे एक विवाह विच्छेद को मान्यता दी थी।

हिंदू विवाह अधिनियम 1955 विवाह विच्छेद को स्वीकार करता है तथा तलाक लेने के आधार बताता है। ये आधार हैं : परगमन, धर्मान्तरण, पागलपन, असाध्य कोढ़, यौन रोग, संन्यास, सात वर्ष या उससे अधिक समय तक अपने पति/पत्नी की खबर न पाना कि वह जीवित है अथवा नहीं, न्यायिक अलगाव के बाद दो वर्ष की अवधि तक सहवास स्थापित करने में असफलता तथा वैवाहिक अधिकारों की पुनर्स्थापना के आदेश का पालन करने में विफलता। स्त्री उस स्थिति में भी तलाक ले सकती है यदि उसके पति की एक से अधिक पत्नी जीवित है अथवा पति बलात्कार, पुरुषगामी अथवा पाशविकता का सिद्धदोषी है। मुस्लिम कानून के तहत पति को अपनी पत्नी को तलाक देने का पूरा अधिकार है, उसे केवल इतना कहना है : 'तलाक, तलाक तलाक'। मुस्लिम स्त्री को ऐसे कोई अधिकार नहीं हैं। पर वह तीन स्वीकृत तरीकों से अपनी शादी खत्म करा सकती है : 'तलाक तफवीद' जब पति ने दूसरी पत्नी लाने की स्थिति में अपनी पत्नी को उसे तलाक देने का अधिकार दिया होता है; 'खुद' जिसमें पत्नी कुछ देकर अपनी रिहाई पा लेती है; तथा 'मुब्बरात' जिसमें परस्पर सहमति से तलाक होता है। मुस्लिम विवाह अधिनियम (1939) नौ आधार जरूरी मानता है जिनके कारण कोई स्त्री अपना विवाह खत्म करा सकती है। अन्य कारणों के साथ इनमें दो वर्ष तक गुजारा न देना, तीन वर्ष तक वैवाहिक दायित्वों को पूरा करने में असफल रहना, यदि अल्पायु में विवाह हो गया हो तो अठारह वर्ष का होने से पूर्व विवाह को अस्वीकार करने तथा निर्दयता शामिल है। ईसाइयों पर भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम 1869 लागू होता है। यदि कोई स्त्री परपुरुषगमन करती है तो उसका पति उसे तलाक दे सकता है। यदि पति किसी अन्य धर्म में धर्मान्तरित हो जाये अथवा पुनर्विवाह कर ले; यदि वह व्यभिचार करे (कौटुंबिक व्यभिचार, द्विपत्नीत्व, क्रूरता अथवा परित्याग) अथवा यदि वह बलात्कार, पुरुषगमन अथवा पाशविकता का दोषी हो तो उसकी पत्नी उससे तलाक ले सकती है। भारत में सभी समुदायों में विशेषकर स्त्रियों के लिए तलाक को अब भी कलंक माना जाता है। लेकिन कलंक माने जाने के बावजूद तलाक ने अनेक स्त्रियों को कुछ क्रूर बंधनों ने मुक्ति पाने में मदद दी है।

स्त्रियों को गुजारा पाने का अधिकार दो स्रोतों से मिला है : व्यक्ति के अपने

समुदाय के लिए व्यवहार्य प्रासंगिक निजी कानून तथा दंड प्रक्रिया संहिता जो पहली बार 1898 में लागू हुई तथा जिसे 1974 की नयी दंड प्रक्रिया संहिता ने दोहराया। पुरानी संहिता के अतर्गत पत्नी (या बच्चे) ऐसे पति (या पिता जहां मामला बच्चों से सबंधित हो) के खिलाफ राहत के लिए अदालत जा सकती है जिसने अपने ऊपर निर्भर लोगों की उपेक्षा की है अथवा उन्हें गुजारा देने से इन्कार किया है। नयी संहिता असंतुष्ट माता-पिता तथा तलाकशुदा पत्नी को भी गुजारा मांगने का अधिकार देती है। किंतु जिन तलाकयाफ्ता पत्नियों को पारंपरिक अथवा निजी कानून के तहत देय 'कुछ धन' प्राप्त हुआ है वे इस संहिता के तहत किसी राहत का दावा नहीं कर सकती। इस अधिनियम के प्रावधानों के तहत गुजारा देने का दायित्व पुरुष का है किंतु पत्नी का दावा इस बात पर निर्भर करेगा कि उसके पति के पास 'पर्याप्त साधन' हैं। असंहिताबद्ध हिंदू कानून तथा हिंदू दत्तक ग्रहण तथा भरण-पोषण अधिनियम (हिंदू एडाप्शन ऐंड मेंटेनेंस ऐक्ट), 1956 के तहत वह उचित और पर्याप्त गुजारा पाने की हकदार है। किंतु अलिखित कानून के अनुसार उसका दावा तभी वैध होगा यदि वह पवित्रता के मार्ग से विचलित नहीं होती। नयी दंड प्रक्रिया संहिता के अंतर्गत उसका अतीत का परगमन उसके दावे को प्रभावित नहीं करेगा यदि वह कानून की शरण में जाने के समय परगामिनी नहीं है। मुस्लिम कानून के तहत तलाकशुदा स्त्री को केवल तीन माह की अवधि—'इद्दत' की अवधि—तक ही गुजारा पाने का हक है। उसे 'मेहर' की रकम भी मिल जाती है। किंतु मुस्लिम स्त्री दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 का आश्रय ले सकती है। परित्यक्ता तथा बाद में तलाकयाफ्ता पैंसठ वर्ष की वृद्धा शाहबानो अपने वकील पति से गुजारा पाने का दावा करने अदालत गयीं। अनेक अन्य मुस्लिम स्त्रियों ने पहले भी ऐसा किया था तथा राहत पायी थी। शाहबानो निचली अदालत में अपना प्रकरण जीत गयीं और उच्चतम न्यायालय ने भी उन्हें गुजारा भत्ता दिये जाने की पुष्टि की। उच्चतम न्यायालय के निर्णय में समान नागरिक संहिता के गुणों पर कुछ सुस्पष्ट टिप्पणियां की गयी थीं। इन टिप्पणियों ने देश के महत्वपूर्ण मुस्लिम अल्पसंख्यकों के एक बहुत नाजुक तार को छू दिया जिससे बहुत जबर्दस्त विवाद खड़ा हो गया। सरकार ने, जो पहले इस 'प्रगतिशील' निर्णय का स्वागत करने को उन्मुख थी एकाएक रुख बदल दिया और एक संशोधन का सहारा लिया जिससे मुस्लिम निजी कानून में और हस्तक्षेप पर रोक लग गयी। शाहबानो का गौरव अल्पजीवी रहा। वह तत्काल मशहूर हो गयीं। उनके मामले ने जिस भावपूर्ण बहस को जन्म दिया उससे चीजें अधिक स्पष्ट हुई और उन पर ध्यान केंद्रित हुआ। ताकत भी दिखायी दी। भारतीय विवाह

विच्छेद अधिनियम (1869) जो ईसाइयों पर लागू होता है, तथा पारसी विवाह तथा संबंध विच्छेद अधिनियम (1936) में कुछ प्रावधान समान है। दोनों में पत्नी को गुजारा पाने का अधिकार दिया गया है। जिस समय वैवाहिक मुकदमे अदालत मे लंबित होते हैं उस समय निर्वाह-धन पति की सकल आय का पांचवा हिस्सा होता है। स्थायी गुजारा पति की भुगतान करने की सामर्थ्य, पत्नी की अपनी परिसंपत्तियों तथा दोनों पक्षों के आचरण पर निर्भर करता है। गुजारा तब तक प्रभावी रहता है जब तक पत्नी पवित्रता के प्रतिमानों के अनुरूप रहती है तथा पुनः विवाह नहीं करती।

वर्तमान कानून के अंतर्गत विधवाओं तथा तलाकयाफ्ता स्त्रियों का पुनर्विवाह सभी समुदायों में मान्य है यद्यपि परंपरागत भारतीय सहिता के अंतर्गत द्विज जातियों मे विधवा विवाह की अनुमति नहीं है। हिदू पुरुष पूरे समारोहपूर्वक जितनी बार चाहे विवाह कर सकता है किंतु स्त्री का विवाह केवल एक बार हो सकता है।

उत्तराधिकार विरासत के कानून अत्यधिक जटिल हैं। उन्हें समझने के लिए पवित्र धर्मग्रंथों तथा धार्मिक संहिताओ, आधुनिक विधान तथा प्रथागत कानून व प्रथाओं द्वारा निर्धारित नियमों की किंकर्तव्यविमूढ़ कर देने वाली भूलभुलैया से गुजरना होगा। फौजदारी कानून तथा विधिशासी करार (सविदाए) समान तथा एकरूप हैं किंतु परिवार का क्षेत्र निजी कानून के अंतर्गत आता है। निजी कानून धर्म और क्षेत्र के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं। हिंदुओं (बौद्धों, जैनो तथा सिखों सहित) में उत्तराधिकार तथा विरासत के मामले तीन भिन्न कानूनों—मिताक्षरा कानून, दाय-भाग कानून तथा मरुमक्कट्टयम कानून—से संचालित होते हैं। मिताक्षरा कानून उत्तरी, मध्य, पश्चिमी और दक्षिणी भागों में प्रचलित है। दायभाग कानून पूर्वी भाग विशेषकर बंगाल, पूर्वी बिहार तथा उड़ीसा के कुछ हिस्सों में लागू होता है तथा मरुमक्कट्टयम कानून दक्षिण में मातृवंशी समुदायों में व्यवहार्य है। मिताक्षरा कानून के अनुसार पुत्र जन्म के साथ ही संयुक्त परिवार की पुरखों की संपत्ति में अधिकार पा लेता है। कानूनी भाषा में वह सहदायाद (कोपार्सिनरी) बन जाता है। दायभाग कानून के तहत सहदायिकी—पुरखों की संपत्ति में पुत्र के अंतर्निहित अधिकार—की धारणा अनुपस्थित थी। इन दोनों कानूनों के अंतर्गत स्त्री की स्थिति निर्भरता की थी। जहां उसे संपत्ति में अधिकार प्राप्त था भी, वहां भी ये अधिकार बिना पूर्ण स्वामित्व के उसके जीवनकाल तक ही सीमित थे। मरुमक्कट्टयम कानून के अनुसार उत्तराधिकार तथा विरासत स्त्री की वंश परंपरा में होता है जिसमे पुत्रियों और पुत्रों दोनों का हिस्सा होता है। आदिवासी अपने प्रथागत कानून मानते हैं।

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 में कड़े विरोध के बावजूद पारित हुआ। यह अधिनियम कुछ आमूलचूल परिवर्तन लाया। इसने मिताक्षरा तथा दायभाग व्यवस्थाओं को खत्म कर दिया। यह मरुमक्कट्टयम कानून मानने वाले समुदायों पर भी लागू था यद्यपि यह स्वीकार किया गया था कि मातृवंशी समाज की व्यवस्था में कुछ भिन्नता तो होगी ही। इस अधिनियम में समाहित सबसे प्रगतिशील कदम था उत्तराधिकार में स्त्री का पुरुष के समान अधिकार। व्यक्ति के उत्तराधिकारियों में जिन लोगों को समान अधिकार प्राप्त हैं वे हैं उसकी विधवा, माता, पुत्र, पुत्री, पूर्व दिवंगत पुत्र की विधवा, तथा पूर्व दिवंगत पुत्रों और पुत्रियों के पुत्र तथा पुत्रियां। स्त्रियों को अब केवल अपने जीवनपर्यंत उपभोग का ही अधिकार नहीं है बल्कि अब उन्हें समान अधिकार प्राप्त है। लेकिन वांछित एकरूपता अब भी नहीं आयी है। यह विधान अनेक समझौतों पर आधारित था जिसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है मिताक्षरा हिस्सेदारी का बने रहना जिसकी कोई स्त्री सदस्य नहीं हो सकती। अब होता यह है कि किसी हिस्सेदार की मृत्यु होने पर उसका हिस्सा इस तरह दर्ज करा दिया जाता है मानों बंटवारा हुआ हो और तब वह हिस्सा उसके उत्तराधिकारियों में बांट दिया जाता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि राज्यों के विधान के तहत स्त्रियों को भूमिधारण के अधिकार नहीं सौंपे जा सकते। मुसलमानों में शरीयत के अनुसार स्त्री को उसी कोटि के पुरुष वारिस के मुकाबले आधा हिस्सा मिलता है। ईसाइयों में उत्तराधिकार कानून में भिन्नता है। दक्षिण भारत के कुछ ईसाई समुदायों में पिता की संपत्ति में स्त्री का हिस्सा एक चौथाई अथवा पांच हजार रुपए–जो भी कम हो–है। निश्चय ही पारिवारिक कानून अपने आप अमल में नहीं आता। कानूनी मदद लेना आसान नहीं है, क्योंकि न्यायिक प्रक्रिया खर्चीली है तथा इसमें बहुत समय लगता है। इसी कारणवश स्त्रियां स्वय को असुरक्षित पाती हैं।

जहां तक विवाह का प्रश्न है, आधुनिक भारत में क्षेत्र, धर्म, पंथ और जाति के अवरोधों के टूटने के पर्याप्त साक्ष्य हैं। जीवन साथी चुनने में अधिक स्वतंत्रता मिली है। विवाह की आयु भी बढ़ रही है लेकिन इसके साथ ही तड़क-भड़क, और आडंबर और बढ़ा है तथा दहेज का चंगुल भी वीभत्स रूप से कस रहा है।

नातेदारी

नातेदारी रक्त संबंध (तकनीकी रूप से रक्त संबंधी) अथवा विवाह (मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र की भाषा में एफिनिटी-वैवाहिकता) के जरिये संबधित व्यक्तियों

की मान्यता का द्योतक है। एक वर्ग के रूप में संबंधियों को विशेष प्रस्थिति प्राप्त है। जैसाकि पहले देखा जा चुका है, उनके प्रति उपयुक्त रवैये तथा मानक व्यवहार निर्दिष्ट करने वाले व्यापक नियम हैं। ये नियम उनकी सुरक्षा, स्नेह, देखभाल, सरोकार, निकटता (हंसी-मजाक के संबंध), विमुखता, (शारीरिक, भाषिक अथवा दृष्टि संपर्क), श्रद्धा, सम्मान, हस्तक्षेप तथा आज्ञाकारिता के विषय में हैं। नातेदारी की महत्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक भूमिकाएं हैं। यह दावा कि आधुनिक औद्योगिक समाज में नातेदारी की केंद्रीयता का क्षरण हुआ है, अधिक से अधिक आंशिक सत्य ही है। नातेदारी बंधनों का संपूर्ण क्षेत्र संभव है कि अब पहले की भांति महत्वपूर्ण न रह गया हो, किंतु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सामाजिक, आर्थिक, तथा राजनीतिक क्षेत्रों में उनकी महत्वपूर्ण समर्थनकारी अथवा सुधारात्मक भूमिका है।

परिवार के संदर्भ में वंशनाम, आवास तथा उत्तराधिकार के नियमो पर चर्चा की जा चुकी है। इन पर और विस्तार से चर्चा नीरस तथा केवल अकादमिक रुचि की होगी। किंतु उत्तरी और दक्षिणी भारत मे नातेदारी की स्थूल व्यापक विशेषताओं में अंतर करना तथा कुछ विशेप प्रकरणों पर संक्षिप्त टिप्पणी करना आवश्यक है।

उत्तर भारत में मूलभूत नातेदारी समूह पितृवंशी हैं—कुल/वंश (सामान्य लोग इन दो संज्ञाओं के बीच स्पष्ट भेद नहीं करते), एवं गोत्र तथा जाति (इस अर्थ में कि लोग जाति भाई की बात करते हैं)। प्रथम दो बहिर्विवाही हैं किंतु जाति अंतर्विवाही है। व्यक्ति से अपने पिता, माता, दादी, तथा नानी के गोत्र में विवाह करने की अपेक्षा नहीं की जाती। पहचान, प्रस्थिति, तथा संपत्ति पुरुप पक्ष में स्थानांतरित होती है। वंश के सदस्य कर्मकांडों और समारोहों, तथा वस्तुतः कुछ प्रमुख आर्थिक गतिविधियों में भी सहयोग देते हैं। किंतु इस समूह में संघर्ष तथा विवाद भी हो सकते हैं जो पीढ़ी दर पीढी चलते रह सकते है। विशिष्ट अवसरों पर रक्तसंबंधियों तथा वैवाहिकों की विभिन्न श्रेणियों के बीच उपहारों का आदान-प्रदान भी होता है लेकिन इस मामले में स्थानीय, क्षेत्रीय तथा जातिगत विभिन्नता इतनी अधिक है कि एक संक्षिप्त विवरण में उनकी रूपरेखा देना भी असंभव है। इसकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि निकट संबंधियों के बीच विवाह कठोर रूप से निपिद्ध है। कुछ भागों में ग्राम/क्षेत्रीय बहिर्विवाह का नियम वधू को वर से और दूर कर देता है। 'पुत्रियों' तथा 'बहुओं' की भूमिका में तीखे अंतर हैं। दक्षिण भारत में केवल कुछ महत्वपूर्ण अपवादों को छोड़कर सामान्य विशेपताएं समान हैं। यहां कुछ समुदायों में पितृवंशिकता है जबकि अन्य में

मातृवंशिकता प्रवल है। मातृवंशिकता में पिता के बजाय मामा प्रबंधक होता है और उसका ही प्रभाव चलता है।

जैसा हम पहले ही देख चुके हैं कई समूहों में वरीयता प्राप्त विवाह घनिष्ठ नातेदारों की कुछ श्रेणियों के बीच होते हैं जैसे फुफेरे-ममेरे भाई-बहनों के अथवा मामा और भांजी के बीच। भांजी को व्यक्ति की बड़ी बहन की पुत्री होना चाहिए। इन मामलों में वधू का जिस परिवार में विवाह हो रहा है, वह उसे अच्छी तरह जानती-समझती है। इस प्रकार उत्तर में जहां वधू देने वालों से वधू लेने वाले श्रेष्ठ होते हैं वहीं दक्षिण में इन दोनों पक्षों के बीच कोई भेद नहीं किया जाता। इस तरह के विवाहों के कुछ निश्चित लाभ होते हैं। इस तथ्य के अतिरिक्त कि संपत्ति घनिष्ठ नातेदारों के बीच ही घूमती रहती है, इस तरह के परिवेश में उत्तर के मुकाबले—जहां दोनों पक्ष अपरिचित क्षेत्र के होते हैं—वधू के प्रति दुर्व्यवहार किये जाने की संभावना कम रहती है।

अंत मे हम कुछ उन विशिष्ट प्रकरणों पर विचार करेंगे जो बाहरी लोगों को बहुत परेशान करते हैं।

जैसाकि पहले वताया जा चुका है, वंशनाम, उत्तराधिकार तथा विरासत में मेघालय के खासी मातृवंशी है। उनके आवास मातृस्थानीय हैं। उनकी उत्तराधिकार व्यवस्था में सबसे छोटी बेटी—खुदुह—बहुत विशिष्ट होती है : वह उत्तराधिकारी होती है जबकि अन्य बेटियां अपने विवाह और एक-दो बच्चों के जन्म के बाद अलग गृहस्थी बसाने के लिए घर छोड़ देती हैं, वहीं कनिष्ठतम पुत्री अपने पति और बच्चों के साथ अपनी माता के साथ ही रहती है। वह 'ईंग' (घर) के कर्मकांडों तथा अस्थियों की अभिरक्षक है। भूमि के संदर्भ में उसकी स्थिति विशिष्ट होती है।

गारो जनजाति में गृहस्थी को 'नोक' कहा जाता है। गृहस्थी की उत्तराधिकारी तथा उसे चलाने के लिए चयनित बेटी 'नोकमा' कहलाती है। उसे अपने पिता के वश के किसी व्यक्ति से विवाह करना पड़ता है। उसके पति को 'नोकरोम' कहा जाता है। अपने श्वसुर की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार में उसे अपनी पत्नी के नोक का प्रमुख पद (और उसके माध्यम से उसका प्रबंधन) मिल जाता है। किंतु यह अधिकार प्राप्त कर सकने से पूर्व उसे अपनी पत्नी की माता से विवाह करना पड़ता है। यह मूलतः एक आर्थिक प्रबंध है। यह बात विवादास्पद है कि यह विवाह (पुरुप तथा उसकी सास के बीच) क्या सहवास के रूप में कभी अपनी पूर्णता प्राप्त कर पाता है किंतु कुछ मानवविज्ञानी इस बात पर जोर देते हैं कि

उनके बीच यौन संपर्क होता है।

मध्य केरल मे अतीत में तथा लक्षद्वीप में अब भी द्विस्थानीय आवास तथा मेहमान पतियों का संरूप बाहर वालों को कुछ अनोखा लग सकता है किंतु यह पहले भी सफल था और अब भी चल रहा है। नायर स्त्रियों के नंबूदिरी अथवा नायर मेहमान पति हो सकते थे। दूरियां अधिक होने के कारण नायर पति हर रात अपनी पत्नी के पास नहीं आ पाते थे लेकिन नबूदिरियों को एक विशेष सुविधा प्राप्त थी। जहा जमीन की कोई कमी न थी वहां उनके लिए नायर 'तारावाड़' के निकट एक 'मठम' (आवासीय स्थल) बना दिया जाता था। इसके लिए किसी पोखर अथवा कुएं के निकट का स्थान पसंद किया जाता था। नंबूदिरी अपनी दिन भर की आनुष्ठानिक शुद्धता की स्थिति के दौरान अपनी नायर पत्नी तथा बच्चों के साथ भोजन नहीं कर सकता था न ही उनके साथ कोई शारीरिक संपर्क रखता था। रात में वह अपने बच्चों के प्रति स्नेहपूर्ण तथा अपनी पत्नी के साथ अंतरंग हो सकता था। द्विस्थानीय आवास का संरूप लक्षद्वीप मे अब भी सफल है। 1961-63 के एक अध्ययन के अनुसार इस द्वीपसमूह के एक द्वीप कलपेनी में 76 प्रतिशत विवाह इसी प्रकार के थे। द्वीप छोटे हैं अतः दूरियां आसानी से तय की जा सकती है। इससे यह व्यवस्था सुचारू रूप से चल रही है।

5

ग्रामीण तथा नगरीय संदर्भ

सामाजिक संरचना की मुख्य इकाइयां—जाति, संप्रदाय अथवा धार्मिक समुदाय और परिवार तथा नातेदारी समूह—अकेले अलग-थलग रहकर काम नहीं करतीं। सहयोग के साथ-साथ ग्राम संघर्ष का भी रंगमंच है। संघर्ष समाधान और सामाजिक गोलबंदी के उसके अपने परपरागत तरीके हैं। दूसरी ओर अनेक गांवों में व्यापक गुटबंदी और लगातार चलते रहने वाले विवाद उनकी विशेषता है। विकास की इकाई माने जाने वाले ग्राम में अब अनेक औपचारिक तथा कानूनी संस्थाएं हैं। अनेक गांवों में राजनीतिक दलों के अपने अभिकर्त्ता हैं और बड़े गांवों में उनके दल के कार्यालय हैं। ग्राम निगमित तो नहीं हैं लेकिन उनकी अपनी एक पहचान, सुनिर्धारित सीमाएं (राजस्व तथा वन), ग्राम की सामान्य संपत्ति (निस्तर भूमि), तथा साझा संसाधन जैसे कुएं-तालाब होते हैं। वहां मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर तथा गुरुद्वारा हो सकता है। हो सकता है कि उनमें सबका प्रवेश हो अथवा वे केवल धर्म विशेष को मानने वालों के लिए ही खुले हों।

यह मत बहुत प्रचारित है कि भारतीय ग्राम 'आत्मनिर्भर' नन्हे गणतंत्र हैं। लेकिन ऐसा नहीं है। अतीत में भी उन्हें कम से कम कुछ चीजों के लिए तो बाहरी संसाधनो पर निर्भर करना ही पड़ता था। उदाहरण के लिए प्रतिदिन के भोजन के लिए जरूरी सामान्य नमक की आपूर्ति घुमंतू बंजारों द्वारा की जाती थी। बंजारे दक्षिण में लम्बाडा कहलाते हैं। चूड़ियां भी, जो सुहागिन स्त्रियों का अनिवार्य शृंगार मानी जाती हैं, स्थानीय स्तर पर हर जगह नहीं बनायी जाती थीं। अन्य अनेक वस्तुओं के लिए भी गावों के बीच व्यापार होता था। बाजार केंद्रों में अनेक गांवों से लोग आते थे। केंद्रीय स्थिति वाले गांवों में साप्ताहिक बाजार लगते थे। प्राचीन धर्मग्रंथों तथा यात्रियों के विवरणों में स्थानीय तथा क्षेत्रीय मेलों का उल्लेख मिलता

है जहां बड़ी संख्या में लोग दूर-दूर से आते थे। कुछ लोग महान पवित्र केंद्रों के लिए लंबी दूरी की तीर्थयात्राएं करते थे। वधुएं निकटस्थ अथवा दूरस्थ दूसरे गांवों से आती थीं। नातेदारी का संजाल विस्तारित था। अंतरग्राम पंचायतों की भी परंपरा थी।

यद्यपि भारत ग्रामों के देश के रूप में प्रसिद्ध है तथापि यहां नगरीय केंद्रों की भी प्राचीन परंपरा रही है। सिंधु घाटी सभ्यता की प्रकृति मूलतः नगरीय थी। विदेशी यात्रियों ने अनेक फलते-फूलते शहरों का उल्लेख किया है जो देश के विभिन्न भागों में स्थित थे। इनमें से कुछ नगर प्रशासनिक राजधानी थे, कुछ नगरों का धार्मिक महत्व था, कुछ अन्य व्यापार तथा वाणिज्य केंद्र थे। इन नगरों तथा इनके पृष्ठ प्रदेशों (हिंटरलैंड) में बसे गांवों के बीच परस्परक्रिया के सुनिश्चित सरूप थे। ये संपर्क अब कहीं अधिक विकसित हैं। प्रशासनिक, न्यायिक, विकासपरक तथा अन्य कारणों से ग्रामीण जनता को प्राचीन समय की तुलना में अब शहर ज्यादा आना पड़ता है।

प्रत्येक ग्राम में अनेक जातियों के लोग रहते हैं। इन जातियो के बीच कुछ क्षेत्रों में अलग-अलग तरह के संबंध होते हैं। किंतु इसके साथ ही उनके बीच पड़ोसी के संबंध तथा व्यक्तिगत तथा पारिवारिक मित्रताएं एव शत्रुताएं भी होती हैं। गांव के भीतर अंतरजातीय तथा अंतरव्यक्तिगत संबंधों के तीन पक्ष विशेष रूप से विचारणीय हैं : विशिष्ठ व्यावसायगत सेवा विनिमय के माध्यम से जातियों की परस्परनिर्भरता, जाति पंचायतों के अतिरिक्त ग्राम पचायतों की कार्य प्रणाली (जिसमें ग्राम में रहने वाली सभी जातियों का प्रतिनिधित्व होता है); तथा गांव की गुटबंदी की राजनीति। इनमें से पहले दो में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं।

हम पहले देख चुके है कि अधिकतर जातियों के साथ कोई न कोई हस्तकला या व्यवसाय जुड़ा है। इसके साथ ही कुछ व्यवसाय 'खुले' होते हैं यानी उन्हें किसी भी जाति का व्यक्ति अपना सकता है। अनेक पारंपरिक व्यवसायों के संदर्भ में ग्रामीण परिवारों के साथ संबद्धता की व्यवस्था है। सेवाओं के लिए भुगतान वस्तु के रूप में या नकद अथवा नकद व वस्तु दोनों के रूप में किया जाता है। देश के विभिन्न भागों मे इस व्यवस्था को विभिन्न नामों से जाना जाता है। लेकिन मानवशास्त्रीय तथा समाजशास्त्रीय साहित्य में इसे जजमानी कहा जाता है क्योंकि सबसे पहले उत्तरप्रदेश के एक गांव में कुछ विस्तार से किये गये एक अध्ययन में इसे यही नाम दिया गया था। इसे 'आश्रयदाता-आश्रित' संबंध भी कहा गया है। लेकिन यह नाम भ्रामक है। यह नाम समृद्ध जमींदार (आश्रयदाता)

तथा उन्हें सेवा प्रदान करने वाली जातियों (आश्रित) के संदर्भ में सटीक हो सकता है किंतु आर्थिक तथा कर्मकांडीय सेवाओं का आदान-प्रदान भिन्न-भिन्न जातियों के बीच समान आर्थिक प्रस्थिति वाले परिवारो के बीच भी होता है। इस तरह की स्थिति में यह तय कर पाना असभव होगा कि कौन 'आश्रयदाता' है और कौन 'आश्रित'।

यह व्यवस्था किस तरह काम करती है ? इसे कुछ उदाहरणों से देखा जा सकता है। लेकिन इसका संरूप पूरे भारत में एक समान नहीं है और कुछ भागों में यह अधिक तीव्र गति से बदल रही है। हमें यह बात ध्यान में रखनी होगी कि इस संबंध के अंतर्गत कुछ आर्थिक सेवाओं के साथ-साथ कुछ कर्मकांडीय सेवाएं भी शामिल हैं। खेती का काम करने वाले मजदूरों को उनके काम और उसके बदले में मिलने वाले मुआवजे के आधार पर अलग से रखा जाता है। नाई का परंपरागत व्यवसाय बाल काटना है। इस काम के बदले उसे कृषि स्वामी से मुख्य फसल की कटाई के बाद एक निश्चित मात्रा में अनाज मिल जाता है। नाई की सेवाएं गैर खेतिहर भी ले सकते हैं। वे इसके बदले में नाई को अपनी विशेषीकृत सेवाएं देंगे जैसे कुम्हार उसे कुछ मिट्टी के बर्तन दे सकता है, लोहार नाई का उस्तरा तेज कर सकता है और उसके लिए नाखून काटने का उपकरण (नहन्नी) तथा कान का मैल निकालने की सलाई बना सकता है। नाई की सेवाओं के बदले में बढ़ई उसके उस्तरे की बेंट की मरम्मत करने के अतिरिक्त कुछ और छोटे-मोटे काम कर सकता है। नाई की भूमिका कर्मकांडों में भी होती है। उत्तर भारत में वह गांव के भीतर और आसपास विवाह के निमंत्रण बांटता है; उसके परिवार की स्त्रियां वैवाहिक (और मृत्यु के बाद भी) भोजों के लिए पत्तलें और कुल्हड़ बनाती हैं; वे जिस घर मे काम करती हैं वहां की महिलाओं के पैरों में आलता-महावर भी लगाती हैं। खेतिहरों से वर्ष में एक बार अनाज प्राप्त करने के अतिरिक्त अनुष्ठानों के अवसरो पर उन्हें अनुष्ठान के विभिन्न चरणों में कुछ नकदी भी मिलती है। ऐसे अवसरों पर उन्हें भोजन भी मिलता है।

किसानों के मामले में बढ़ई उसके हलो की मरम्मत करता है या नये हल बनाता है, लोहार उसके हल की फाल की मरम्मत करता है या नया फाल बनाता है। इसके अतिरिक्त वह खेती में काम आने वाले अन्य उपकरण भी बनाता है। कुम्हार घड़े-मटके और अनाज संग्रहीत करने के लिए बड़े-बड़े भांड बनाता है। चमड़े का काम करने वाला चमार या मोची हल या गाडी में जोते जाने वाले बैलों के लिए साज बनाता है। सुनार सोने या चांदी के वे छोटे-छोटे आभूषण बनाता है

जिनका कर्मकाडीय महत्व होता है; बढ़ई विवाह का स्तंभ बनाता है और आवश्यकतानुसार विवाह मंडप भी बना देता है। कुम्हार कर्मकाड के अवसरों पर काम आने वाले बर्तन प्रदान करता है, लोहार कील देता है जो भूमि में गाड़ दिये जाने पर विवाह की दृढ़ता का प्रतीक होती है। समारोहों, या खेती के कामों तथा विभिन्न दिशाओं की यात्रा के लिए अनुकूल दिवसों की गणना करने के लिए समय-समय पर ब्राह्मण को बुलाया जाता है, वह भविष्यवाणी भी करता है। इस काम के लिए उसके परिवार को प्रति माह 'सीधा' मिलता है। 'सीधा' अर्थात भोजन सामग्री (थोड़ा चावल, आटा, गुड़, हल्दी, मिर्च और घी)। कर्मकांड और पूजा कराने के लिए नगदी और वस्तु के रूप में कर्मकांडीय उपहार दिये जाते हैं। दस्तकार तथा शिल्पी इन सेवाओं का आदान-प्रदान आपस में करते हैं। स्वर्ण या चांदी के आभूषण बनाने, बैलगाडी या तख्त-चारपाई बनाने, जूते बनाने जैसे विशेषज्ञतापूर्ण अतिरिक्त कार्य के लिए भुगतान प्रायः नगदी के रूप में किया जाता है। ये जजमानी संबंध अब भी बने हुए हैं हालाकि अब इन पर कुछ दबाव है। नगदी या वस्तु के रूप में भुगतान के संबध में असहमतियां हैं और नयी पीढ़ी का एक वर्ग नगद भुगतान ले रहा है या 'खुले' व्यवसायों की ओर जा रहा है।

जैसा कि देखा जा चुका है, गांव में दो तरह की पंचायतें होती थीं—एक जाति पंचायत तथा एक ग्राम पंचायत। यदि किसी गांव में किसी जाति विशेष के परिवार कम होते तो वे आमतौर पर निकटवर्ती गांवों की जाति पंचायत के साथ जुड़ जाते थे। ग्राम पंचायतों में लगभग सभी जातियों के बुजुर्गो का प्रतिनिधित्व होता था। मुखिया या सरपंच का पद पैत्रिक आधार पर मिलता अथवा उसे आम सहमति से चुना जाता था। जाति पंचायत संपत्ति तथा पारिवारिक विवादों की सुनवाई करती थी। ग्राम पंचायत दो या अधिक जातियों के बीच के विवादों या ऐसे गंभीर मामलों की सुनवाई करती थी जिनके कारण गांव की प्रतिष्ठा को आंच आने की संभावना हो। स्वतंत्रता के बाद इनमें न्याय पंचायतें भी जोड़ दी गयी। इस संस्था का सृजन विकासात्मक गतिविधियों के लिए जनता को तैयार करने तथा विकास परियोजनाओ की प्रगति का जायजा लेने के लिए किया गया था। कुछ राज्यों में छोटे-मोटे मामलों में त्वरित व सस्ता न्याय दिलाने के लिए सांविधिक न्याय पंचायतें भी हैं। सांविधिक ग्राम पंचायतें बड़े गांवों में स्थित हैं अथवा अनेक छोटे गांवों को एक पंचायत के अंतर्गत रख दिया गया है। पारंपरिक पचायतें अब उतनी शक्तिशाली नहीं रह गयी है जितनी वे एक समय में थीं। पारंपरिक तथा न्याय पंचायतों के बीच कभी-कभी सघर्ष के समाचार भी मिले हैं।

ग्रामीण जीवन की एक विशेषता के रूप में गुटबंदी को सामाजिक संरचना में स्वीकृति नहीं मिली है। गुटबंदी व्यक्तियों तथा परिवारों के बीच प्रायः विरोधी, कभी-कभी सहयोगपूर्ण सत्ता गठबंधनों का प्रतिनिधित्व करती है। गुटबंदी की राजनीति का अपना तर्कशास्त्र, अपने नियम होते हैं। प्रत्येक गुट एक या अधिक दबंग व्यक्ति या व्यक्तियों के इर्द-गिर्द निर्मित होता है। सामान्यतः उसे परिवार तथा नातेदारी समूहों का समर्थन प्राप्त रहता है। यह भी संभव है कि एक नातेदारी समूह निष्ठा की दृष्टि से भिन्न-भिन्न गुटों में बंटा हो। प्रत्येक गुट को समर्थन परस्पर विरोधी हितों वाले, विभिन्न जातियों के व्यक्तियो और परिवारों से मिलता है। एक गांव मे ऐसे दो या तीन प्रमुख गुट हो सकते हैं जिनमें स्थायित्व हो और जो कई पीढ़ियों से चले आ रहे हों। ऐसे अल्पजीवी गठजोड़ भी होते हैं जिनका जन्म किसी खास विवाद से या परस्पर संवद्ध सघर्षो से होता है। एक बार संघर्ष का समाधान हो जाने के वाद वे गठजोड पृष्ठभूमि में विलीन हो जाते हैं। लेकिन प्रमुख गुट अपने निष्ठावान सदस्यों को लगातार समर्थन देते रहते हैं। इस समर्थन में वाहुबल तथा अदालती मामलों मे सच्ची-झूठी गवाही देना भी शामिल है। एकताबद्ध समूहों के रूप में गुट अपने सदस्यों के हितों पर निर्भर होते हैं। ऐसे गुटों का ताकत का खेल पारिवारिक विवादों, अतरजातीय संघर्षों तथा अतरग्राम झगड़ों तक विस्तारित होता है। ये गुट पचायतों—पारंपरिक तथा सांविधिक दोनों—के निर्णयों को प्रभावित करने का भी प्रयास करते हैं। विकास के लिए नवगठित निकायों तथा राज्य व राष्ट्रीय चुनावों ने गुटों को भिड़ने के अतिरिक्त अखाड़े प्रदान किये हैं।

इस स्थान पर ग्रामीण असमानताओ पर एक संक्षिप्त टिप्पणी आवश्यक है। कृषि जनगणना पर अखिल भारतीय रिपोर्ट (1970-71) के अनुसार भारतीय किसानों के 50.6 प्रतिशत के पास कुल मिलाकर केवल 9 प्रतिशत भूमि है। 32. 9 प्रतिशत के पास 0.5 (हेक्टेयर) से छोटी जोत है, 17.7 प्रतिशत के पास 0.5 से 1.0 (हेक्टेयर) तथा 19.0 प्रतिशत के पास 1.0 से 2.0 (हेक्टेयर) जोत है। कृषीय जनगणना रिपोर्ट (1975) बताती है कि तीन करोड़ 57 लाख कार्यरत जोतें आकार में एक हेक्टेयर से कम हैं। ये जोतें कुल जोत क्षेत्र का 51 प्रतिशत है। ऐसी जोतों, जिनका आकार एक से दो हेक्टेयर के बीच है, की संख्या एक करोड़ 34 लाख है। कुल जोतो में उनका हिस्सा 19 प्रतिशत था। अति निर्धन लोगों के पास जमीन थी ही नहीं, यदि थी भी तो इतनी छोटी जिस पर खेती से कोई लाभ नहीं। सीमांत तथा लघु कृपकों के पास समान्यतः कम उर्वर भूमि थी। उर्वर तथा

सिंचित भूमि अधिक समृद्ध किसानों के पास थी।

विभिन्न क्षेत्रों में एक संरूप सामने आया जिससे कुछ जातियां प्रभुत्वपूर्ण भूस्वामी बन गयीं। उदाहरण के लिए पंजाब और हरियाणा में जाट, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में जाट तथा राजपूत, बिहार में भूमिहर तथा राजपूत, गुजरात मे पट्टीदार, आंध्रप्रदेश में रेड्डी, वेलमा तथा कम्मा; और कर्नाटक में वोक्कलिगा तथा लिंगायत। इन जातियो के एक छोटे वर्ग के ही पास भूमि का बड़ा हिस्सा था। उनमें से ही अनेक के पास साधारण जोतें थीं और कुछ के पास जोत थी ही नहीं। किंतु अपनी सामूहिक आर्थिक शक्ति के कारण इन जातियों के संपन्नतर तत्वों ने राजनीतिक गुट बना लिया। वे निर्धनों और निर्बलों–जिनमें उनकी अपनी जाति के लोग भी शामिल थे–के शोषक और दमनकर्ता के रूप मे उभरे। 1971 की जनगणना के अनुसार 43 करोड़ 88 लाख की ग्रामीण जनसंख्या को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है–श्रमिक (14 करोड़ 84 लाख अथवा 33.8 प्रतिशत) तथा अश्रमिक (29 करोड़ चालीस लाख अथवा 66.2 प्रतिशत) श्रमिकों की श्रेणी में 51.95 प्रतिशत किसान थे; 30.71 प्रतिशत खेतिहर मजदूर थे; 2.53 प्रतिशत पशुपालन, मत्स्य पालन, वन आदि कार्यो में लगे थे; तथा 14.97 प्रतिशत खानों, प्रसस्करण तथा उत्पादन, निर्माण, घरेलू उद्योग, व्यापार, परिवहन तथा अन्य सेवाओं मे लगे थे। कृषि से उद्योग मे आने की गति अत्यधिक धीमी रही है। 1981 मे 77.4 प्रतिशत कार्यबल कृषि में था; 1971 में भी यह 72.5 प्रतिशत था। राज कृष्ण का आकलन है कि 1973 में लगभग 83 लाख लोग बेरोजगार थे तथा एक करोड़ 73 लाख लोग ग्रामीण क्षेत्रों में अल्प रोजगार प्राप्त (अंडरएम्प्लायड) थे। इन तथ्यों को पुष्ट करने वाले साक्ष्य इसी अवधि के राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण से मिले : ग्रामीण क्षेत्रों में एक वर्ष में 50 करोड़ (पांच हजार मिलियन) बेरोजगार मानव दिवस थे तथा लगभग चालीस लाख लोग काफी लंबे समय से बेरोजगार रह लोगों की श्रेणी मे आते थे। भूमि सुधार कोई प्रभावपूर्ण परिणाम देने में असफल रहे थे। 15.9 लाख हेक्टेयर का क्षेत्र अधिशेष घोषित किया गया था। उसमें से केवल 5.2 लाख हेक्टेयर क्षेत्र ही 8.7 लाख लाभभोगियो के बीच वितरित किया जा सका था। इस प्रकार शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास तथा सामान्य जीवन शैलियों के स्तरों में आसानी से दिखायी पड़ने वाली गैरबराबरी के साथ आर्थिक असमानताएं और गरीबी बनी हुई हैं। निर्धनता के विशाल क्षेत्र का शोषण और दमन जारी है। उग्र सुधारवादी वागाडंबर के विपरीत सुधार के काम की गति पीड़ादायक ढंग से धीमी है।

गांव को उसके संजाल के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। यदि किसी गांव में

सेवाएं देने वाली जातियों का पूरा समूह नहीं होता तो वह पड़ोस के गांवों में जजमानी संबंधों को तलाशता है। नातेदारी सबंध भी निकट और दूर के अनेक गांवों और शहरों तक फैले होते हैं। कुछ क्षेत्रों में अंतरग्राम जाति पंचायतें भी हैं जैसे पंजाब में 'मिस्ल', पश्चिमी उत्तरप्रदेश में 'खाप' तथा आधुनिक मध्यप्रदेश में 'कुदरिया'। जाति संबंधी महत्वपूर्ण मुद्दे तथा गंभीर विवादों पर इन्हीं निकायों में विचार होता है। ये कुछ ही जगहो पर मजबूत बने हुए हैं। अधिकतर क्षेत्रों में इनका ढांचा टूट रहा है। पहले अंतरग्राम पंचायतों की भी परपरा थी किंतु अब उन्होंने तदर्थ चरित्र ग्रहण कर लिया है तथा उनकी बैठकें कभी-कभी ही होती हैं।

लोग गांवों तथा नगरों की विशिष्ट प्रकृति मे अंतर करते है। दोनों के बारे में रूढ़ धारणाए है तथा प्रत्येक कुछ दृष्टियों से अपने को श्रेष्ठ मानता है। ग्रामीणों को सीधा-सादा, सरल माना जाता है। माना जाता है कि शहर के लोग तेज होते हैं और भरोसेलायक नहीं होते अतः उन पर अविश्वास किया जाता है। ऐसी रूढ़ियों के बावजूद ग्रामीण और शहरी लोगों के बीच नियमित रूप से आर्थिक, आनुष्ठानिक, राजनीतिक, तथा सामाजिक आदान-प्रदान होता रहता है। जजमानी संबंधों तथा जाति पंचायतों के संदर्भ में छोटे कस्बों का संरूप काफी कुछ गांव जैसा ही होता है, जाति पंचायतें निस्सदेह शहरों में कमजोर होती हैं। बड़े शहरों में बस जाने वालों की स्थिति भिन्न होती है। वे न तो पूर्णतः विकसित जजमानी संबंध बना सकते हैं न जाति पंचायत। वे अपने क्षेत्र के लोगों का संगठन बनाने का प्रयास अवश्य करते हैं और एक क्लब की तरह समय-समय पर मिलते रहते हैं। वे महत्वपूर्ण क्षेत्रीय उत्सव भी साथ मिलकर मनाते हैं। निश्चय ही वे गांव में अपने संबंधियों को नियमित रूप से पैसा भेजते हैं, वर्ष में एक बार गांव जाते हैं तथा विवाहों और मृत्यु संबंधी अनुष्ठानों में भाग लेने के लिए भी गांव जाते हैं। लेकिन समय पारिवारिक बंधनो पर अपना असर डालता है। मनीआर्डर धीरे-धीरे अनियमित हो जाते हैं और गांव जाना कम हो जाता है।

एक अन्य नगरीय विशेषता उल्लेखनीय है। अनेक जाति संगठन बनाये जाते हैं। इनमे से कुछ शहर केंद्रित होते है, कुछ क्षेत्रीय होते हैं तथा अन्य का स्वरूप अखिल भारतीय होता हैं। उनमें से ज्यादातर टिकाऊ नहीं होते लेकिन अल्पजीवी संगठनों की भी अपनी महत्वपूर्ण कार्यसूची तथा सक्रिय कार्ययोजनाएं होती हैं। वे आंतरिक सुधारों के मुद्दों जैसे विवाह और मृत्यु के अवसर पर होने वाले कर्मकाडो के सरलीकरण, तथा जाति प्रतिमानो के अवांछित उल्लघन पर चर्चा करते हैं। वे अक्सर 'परंपरावादी' तथा 'आधुनिकतावादी' वर्गों के दो ध्रुवों में बट

जाते हैं। उनमें से कुछ अपनी पत्रिकाएं प्रकाशित करते हैं, मंदिर बनवाते हैं तथा छात्रावास और धर्मशालाओं का निर्माण कराते है। ऐसे संगठन जहां मजबूत होते हैं वहां वे राजनीतिक प्रक्रिया में शामिल हो जाते हैं तथा जाति उम्मीदवार अथवा किसी अन्य पसंदीदा उम्मीदवार के लिए वोट जुटाते है।

बढ़ते ग्रामीण-शहरी संपर्को के साथ दो भिन्न प्रतिमान समूह उभर रहे हैं। गांव में लोग परंपरागत प्रतिमानों का पालन करते हैं जैसे कर्मकाडीय पवित्रता तथा अपवित्रता, सहभोज के नियम, कठोर जाति अंतर्विवाह आदि। शहरी परिवेश में ये प्रतिमान काफी ढीले हो गये हैं। एक भरी बस में अपने वगल में वैठे व्यक्ति की जाति पहचान पाना कठिन है न ही किसी सार्वजनिक भोजस्थल पर कोई रसोइये अथवा भोजन परोसने वाले की जाति पूछ सकता है। वैवाहिक चयन अंतर्विवाही समूह तक ही सीमित नहीं है, कमोवेश समान कर्मकांडीय प्रस्थिति वाली जातियों में भी विवाह हो सकता है। नगरों में युवा पीढ़ी नये तौर-तरीके अपना रही है। उनके क्रियाकलापों में परंपरागत प्रतिमानों के पालन का महत्व बहुत कम है।

गांव अब आपस में एक दूसरे से तथा शहरी क्षेत्रों से वहुत अच्छी तरह जुड़ गये हैं। ऐसा पहले कभी नहीं था। बस सेवाओं के जरिये वे प्रशासनिक तथा वाणिज्यिक केंद्रों से जुड़ गये हैं। हरित क्रांति क्षेत्रों में समूहों को फार्म के ट्रैक्टरो से जुड़े ट्रेलरों में वैठकर एक जगह से दूसरी जगह जाते देखा जा सकता है। उद्योग कुछ चीजो का उत्पादन केवल ग्रामीण बाजार के लिए ही करता है यद्यपि खास खरीदारी के लिए शहरी दूकानों पर जाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। बिजली की सुविधा और हैंडपंप वाले गांवो की संख्या बढ़ी है। ट्रांजिस्टर वाले रेडियो अब कोई नयी चीज नहीं रहे है। ग्रामीण क्षेत्रों में अब टी.वी. का भी प्रवेश हो गया है। समृद्ध परिवारों के पास अपने टेलीविजन सेट हैं। सरकार ने भी अनेक गांवो को सामुदायिक टी.वी. सेट दिये है। सड़क के किनारे स्थित गांवों तथा सुदूरवर्ती अनेक बड़े गांवों मे भी टी.वी. 'पार्लर' खोले गये हैं। उनका नाम—पार्लर—सही नही है क्योंकि इनमें से अधिकतर जर्जर इमारतों में हैं। कुछ पार्लर तो छप्पर पड़ी झोपड़ियों में चल रहे हैं। लेकिन इनका धधा जोर-शोर से चलता है क्योंकि वहां विदेशी या भारतीय अश्लील फिल्में दिखाने पर पुलिस का हस्तक्षेप नहीं होता। फिल्म की भाषा समझ में न आने से कोई फर्क नहीं पड़ता। किसानों के लिए कस्बों में कैबरे को संरक्षण देना अब आम बात है। कुछ छोटे कस्बे भी अब कभी-कभी ऐसे 'शो' करने की डींग हांकते है। अव तो गांव के मेलों में भी ऐसे शो होने लगे हैं। उत्सवों और समारोहों के अवसरों पर लाउड स्पीकर पर लोकप्रिय फिल्मों

गीत बजाये जाते हैं। इसकी छाप लोकसंस्कृति पर पडती है। बड़े गांवों और छोटे कस्बों में 'कान्वेंट' और 'पब्लिक स्कूल' अजीबोगरीब दृश्य उपस्थित करते हैं क्योंकि इनमें से अधिकतर शहरी क्षेत्रों मे इन नामों से चलने वाले शैक्षिक संस्थानों की हद से हद फीकी अनुकृति भर हैं। इन संस्थानों की संख्या बढती जा रही है क्योंकि इनमें बच्चों को भेजना प्रतिष्ठा का प्रतीक बन गया है। खाड़ी से आये धन ने विशेपकर पजाव और केरल में नयी वास्तु शैलियों को जन्म दिया है। इनमें से अनेक भड़कीले घर जोर-शोर से अपनी आय के स्रोत की घोषणा करते है। कृषीय संपन्नता के क्षेत्रों में एक अजीबोगरीब चीज देखने मे आती है–'इंग्लिश वाइन शाप'। वे जो कुछ बेचते हैं वह निश्चय ही इंग्लैंड का उत्पाद नहीं होता। वहां शराव बिकती है न कि वाइन। इस प्रकार शहरी क्षेत्रों के संपर्क में रहने वाले गांव लोक तथा लोकप्रिय संस्कृति का एक निराला घालमेल विकसित कर रहे है।

ग्रामीण बनाम शहरी जीवन के गुणो पर जो बहसें और वादविवाद अतीत में चलते रहे है, वे वर्तमान में भी जारी है और सभवतः भविष्य में भी चलते रहेंगे। लेकिन नगरो की ऊर्जा केंद्र (पावर हाउस) की भूमिका को हमेशा मान्यता मिली हैं। नगर ज्ञान और उद्योग के केंद्र रहे हैं। उन्होंने राजनीतिक नेतृत्व दिया है और जनमत बनाया है। वे जीवन शैलियां निर्धारित करते हैं जिनका बाद में ग्रामीण जनता अनुकरण करती है। परिवर्तन की शक्तिशाली प्रेरणाएं लगभग सदैव शहरी केंद्रों से ही उत्पन्न होती रही हैं। बीसवीं सदी के अंतिम दशक में गांवों और नगर के बीच मुठभेड़ बढी है लेकिन इसका उद्देश्य परंपरागत ग्रामीण जीवनशैली को सुरक्षित रखना नहीं है। इसका उद्देश्य है ग्रामीण जनता को भी उन सुविधाओं में से कुछ सुविधाएं दिलाना जिनका सुख शहरों ने सदैव उठाया है। देश के नेतृत्व के ग्रामीण और शहरी हिस्सों के बीच एक नयी समझदारी अपेक्षित है जिसके परिणामस्वरूप गांवो पर अधिक और बेहतर ध्यान दिया जायेगा।

6

नगरीकरण के संरूप

1981 की जनगणना के अनुसार भारत की 76.67 प्रतिशत आबादी 5,57,137 गांवों में रहती है। देश की 66.52 प्रतिशत आबादी कृपि कार्य में संलग्न है। ग्रामीण आबादी का दस प्रतिशत से कुछ ही अधिक हिस्सा गैर-कृपीय व्यवसायों में लगा है। यह देश को एक स्पष्ट ग्रामीण प्रकृति प्रदान करता है। किंतु जैसाकि ध्यान दिया जा चुका है, हमें इस मिथक पर विश्वास नहीं कर लेना चाहिए कि ग्रामीण समुदाय 'नन्हे गणतंत्र हैं, जिनके पास लगभग वह हर चीज है जो वे चाहते हैं. .और वे हर प्रकार के बाहरी संबंधों से लगभग स्वतंत्र हैं. .'। चार्ल्स मेटकाफ, जिन्होंने यह कहा था, गलत थे जब उन्होंने आगे यह भी जोड़ा कि युद्धों और शासन के परिवर्तनों ने ग्रामीण समुदायों को प्रभावित नहीं किया, वे 'अपरिवर्तित, स्थिर तथा आत्मनिर्भर' बने रहे। युद्धों और शासन के परिवर्तनों के परिणामों से इन समुदायों में सत्ता समीकरण बदल गये, भूस्वामित्व की व्यवस्थाओं तथा भूमि जोतों के संरूपों के साथ-साथ व्यवसायों और शिल्पों में बदलाव आये और इससे नये प्रभावशाली समूह सामने आये। ग्राम जीवन के संरूपों पर विजयों और पराजयों से अधिक प्रभाव प्रशासन, व्यापार तथा वाणिज्य और धर्म जैसे विविध क्षेत्रों में ग्रामीण-शहरी परस्परक्रिया के रूपों का पड़ा।

सिंधु घाटी सभ्यता के नगरीय केंद्र भोजन के लिए अपने पृष्ठप्रदेश पर निर्भर थे और यह माना जा सकता है कि निकटवर्ती ग्रामीण क्षेत्रों पर उनका महत्वपूर्ण सास्कृतिक तथा धार्मिक प्रभाव था। यह लगभग 2500 ई.पू. की बात है। साक्ष्य के अनुसार प्राचीन भारत मे अनेक प्रकार के शहरी केंद्र थे—राजनीतिक राजधानियां, दुर्गीकृत सैन्य नगर (दुर्ग), विभिन्न आकारों के उत्पादक अथवा व्यापारिक नगर। बड़े दुर्गीकृत क्षेत्रों को नगर कहा जाता था; नदियों अथवा समुद्र के तटवर्ती वाणिज्यिक बंदरगाहों को पट्टन कहा जाता था तथा छोटे आकार के व्यापारिक केंद्रों को 'द्रोणमुख'

अथवा 'खेत' कहा जाता था; शैक्षिक तथा बौद्धिक केंद्र जैसे नालन्दा, तक्षशिला तथा अन्य अनेक केंद्र; तथा प्रमुख मंदिर नगर व तीर्थ केंद्र जैसे बद्रीनाथ, द्वारिका, पुरी, रामेश्वरम, हरिद्वार, प्रयाग, वाराणसी, गया और तिरुपति थे। प्रारंभिक ऐतिहासिक नगरों का उदय लगभग 600 ई. पू. हुआ। यह प्रवृत्ति जारी रही। भिन्न-भिन्न सत्तारूढ़ राजवंशों ने अपने साम्राज्यों की राजधानियो का विकास किया। पुराने किलों का जीर्णोद्धार किया गया तथा नये किले बनाये गये। प्रत्येक प्रमुख धर्म—हिंदू, जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम तथा सिख—ने उपासना तथा तीर्थ के छोटे-बड़े स्थल बनवाये। फिर, धार्मिक तथा धर्मनिरपेक्ष ज्ञान के केंद्र भी थे। व्यापार और वाणिज्य के कुछ केंद्र फलते-फूलते रहे, कुछ का पतन हुआ और नये केंद्र उभरे। उनके प्रभाव के कारण संभवतः सुदूर क्षेत्रों की छोटी जनजातीय बस्तियों को छोड़कर शायद ही कोई गांव पूरी तरह से अलग-थलग तथा आत्मनिर्भर रह सका हो। ग्रामीण और नगरीय संदर्भो में सामाजिक व्यवस्था की विविधताओं पर अध्याय पांच में संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला जा चुका है। अब यह आवश्यक है कि गत सौ वर्षों में भारत के नगरीकरण के प्रतिमानों को निकट से देखा जाये तथा उसके कुछ सामाजिक परिणामों का मूल्यांकन किया जाये। कस्बे तथा नगर सामाजिक संरचना की इकाइयां नहीं, किंतु वे निश्चय ही ऐसी इकाइयो की कार्यविधि को प्रभावित करते है। इनके कुछ विशिष्ट, सुस्पष्ट संस्थागत तथा संगठनात्मक लक्षण हैं तथा इनके प्रभाव के प्रतिमानों के संपूर्ण रूप मे भारतीय समाज की सामाजिक तथा सास्कृतिक प्रवृत्तियों के लिए महत्वपूर्ण निहितार्थ हैं। इस प्रकार भारतीय सामाजिक यथार्थ को समझने के लिए समाज के नगरीय आयाम को समझना अनिवार्य है।

नगरीय केंद्रों की परिभाषा

प्राचीन तथा मध्य काल में नगरों तथा गांवों के बीच का अंतर अस्पष्ट था तथा कुछ सरल अनुभवसिद्ध उपायों का अनुसरण करता था। जनसंख्या का आकार एक महत्वपूर्ण आधार था। गांव छोटे थे, कस्बे और नगर बड़े थे। कितने बड़े, इसे अपरिभाषित छोड़ दिया गया था। फिर, नगरीय केंद्र कार्यात्मक विविधता तथा व्यवसायगत विशेषज्ञता का प्रतिनिधत्व करते थे। जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है, इनमें से कुछ प्रशासनिक केंद्र थे, कुछ वाणिज्यिक केंद्र, थे, कुछ एक या एकाधिक विशेषीकृत शिल्प का प्रतिनिधित्व करते थे तथा कुछ पुरातन और पवित्र धार्मिक केंद्र थे। यद्यपि उनकी एक प्रमुख विशेषता थी जिसके लिए वे जाने जाते थे किंतु किसी न किसी सीमा तक वे अन्य कार्य भी करते थे। राजधानी व्यापारिक केंद्र

भी होती थी, संभवतः वहां शैक्षिक तथा चिकित्सा संबंधी सुविधाएं भी उपलब्ध थीं। फ्रांसीसियों तथा पुर्तगालियों ने ज्यादा शहर नहीं बनवाये थे किंतु जो थोड़े नगर उन्होंने बनवाये उनमें उनकी कुछ अपनी विशेषताएं थीं जो आज तक कायम हैं। अपने सुदीर्घ साहचर्य के कारण अंग्रेजों का भारत के नगरीकरण पर अधिक प्रभाव पड़ा। तीन प्रेसीडेंसी नगर—मुंबई, कोलकाता और चेन्नई—उनके काफी ऋणी हैं। कई अन्य नगरों तथा कस्वों पर भी छावनियो (कैंटोनमेंट), सिविल लाइस, तथा माल रोड के रूप में ब्रि:टेश प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उन्होंने अनेक पर्वतीय पर्यटन केंद्र भी विकसित किये। कस्वों और नगरों में महत्वपूर्ण रेलवे जंक्शन बने। वाद में, नये औद्योगिक नगर उभरने लगे। नगरीकरण की गति बहुत तेज नहीं रही, किंतु संपूर्ण भारतीय समाज पर एक प्रभाव छोड़ने की दृष्टि से वह पर्याप्त उल्लेखनीय है।

1981 की जनगणना के अनुसार भारत में 3,947 कस्वे तथा नगर हैं। देश की कुल आवादी का 23 33 प्रतिशत—लगभग 16 करोड़ लोग—नगरीय क्षेत्रो में रहते है। ये आंकड़े नगरीय क्षेत्रों के वर्गीकरण के लिए 1961 की जनगणना में स्वीकृत मानंदडों (जिसका वाद मे 1971 तथा 1981 में अनुसरण किया गया) पर आधारित है। नगर निगमों, नगरपालिका क्षेत्रों तथा टाउन कमेटियों के अंतर्गत आने वाले क्षेत्र, अधिसूचित क्षेत्र समितियों, अथवा छावनी वोर्डो के अतिरिक्त नगरीय क्षेत्र माने जाने के लिए जरूरी है कि मानव वस्ती की आवादी मे पांच हजार या उससे अधिक लोग हों। इस आबादी के कम से कम 76 प्रतिशत लोगों को गैर-कृपीय व्यवसायो में संलग्न होना चाहिए, जनसंख्या घनत्व एक हजार व्यक्ति प्रति वर्गमील से कम न हो, तथा यह कुछ स्पष्ट नगरीय विशेषताओं तथा सुविधाओं से युक्त हों जैसे नये लगाये गये उद्योग, बड़ी आवासीय बस्तियां, मनोरंजन स्थल, तथा बिजली, पानी और सार्वजनिक परिवहन। पुरानी परिभाषा, जिसका अनुसरण 1901 से 1961 तक किया गया था, केवल नगरीय संस्थानों—एक नगरपालिका, छावनी, अथवा सिविल लाइंस—अथवा पांच हजार या उससे अधिक जनसंख्या होने को ही जरूरी मानती थी। इस वर्गीकरण में मनमानेपन का एक तत्व था क्योंकि जनगणना कार्यो का प्रांतीय अधीक्षक फैसला कर सकता था कि इस तरह की बस्तियों में से किसे नगर घोषित किया जाना है। 1961 की परिभाषा स्वीकार करने के परिणामस्वरूप 480 वस्तियों ने, जो पहले नगरों के रूप में वर्गीकृत थीं, अपनी नगरीय प्रस्थिति खो दी। 1901 में 1,914 शहर थे। 1961 में इनमें से केवल 1,430 की नगरीय प्रस्थिति वनी रही। 1951 में कस्बों की संख्या 3,060 थी। 1961 में यह संख्या घटकर 2,700 रह गयी। भारत में अब कुल 3,949 कस्बे तथा नगर हैं (1981 की जनगणना)।

1901 में कुल जनसंख्या में नगरीय जनसंख्या का प्रतिशत 10.8 था। 1981 में यह बढ़कर 23.3 हो गया। 19.1 और 1941 के बीच नगरीय जनसंख्या 2.585 करोड़ से बढ़कर 4.415 करोड़ हो गयी तथा 1941 और 1981 के बीच यह बढ़कर 15. 768 करोड़ हो गयी। 1981 की संख्या में असम की जनसंख्या शामिल नहीं है क्योंकि वहां अशांत परिस्थितियों और राजनीतिक कारणों से जनगणना नहीं हो पायी थी। इस प्रकार 1901 से 1981 के बीच कुल राष्ट्रीय जनसंख्या और नगरीय जनसंख्या के अनुपात में वृद्धि केवल लगभग 1.5 प्रतिशत प्रति दशक रही है। वृद्धि की इस धीमी गति ने भी बड़े नगरों में बड़ी समस्याएं पैदा कर दीं। ये नीरस आंकड़े भारतीय समाज के परिवर्तन के एक महत्वपूर्ण पक्ष-नगरीकरण—पर प्रकाश डालते हैं।

नीचे दी गयी तालिका में विविध वर्गों के नगरों और कस्बो की संवृद्धि के आंकड़े दिये गये हैं। बस्ती की न्यूनतम जनसंख्या इस प्रकार है : श्रेणी एक—1,00,000+, श्रेणी दो—50,000 से 99 999, श्रेणी तीन—20,000 से 49,999, श्रेणी चार—10,000 से 19,999, श्रेणी पांच-5,000 से 9,999 तथा श्रेणी छह-पांच हजार से कम आबादी।

तालिका 1

भारत में नगरों तथा कस्बों की संख्या में वृद्धि, 1901-81

	श्रेणी तथा संख्या					
वर्ष	एक	दो	तीन	चार	पांच	छह
1901	25	44	144	425	765	499
1911	26	38	158	385	742	543
1921	29	49	172	391	767	614
1931	31	59	217	474	842	571
1941	49	88	271	548	973	468
1951	76	111	368	668	1,191	622
1961	106	138	508	811	827	257
1971	150	214	643	962	797	288
1981	226	325	883	1,247	920	348
				1981 की कुल जनसंख्या (दस लाख में)		
	83.04	22.03	26.87	17.68	6.93	1.13

एक लाख या उससे अधिक जनसंख्या वाली नगरीय बस्तियों का उल्लेख 'नगर' या 'शहर' के रूप में किया जाता है। अन्य बस्तियां 'कस्बा' वर्ग में आती है। नगरों में भी एक विशेष वर्ग है—महानगर, जिनकी आबादी दस लाख से ऊपर है। इनमें सर्वोच्च स्थान कलकत्ता, (अब कोलकाता), बंबई (अब मुंबई), दिल्ली तथा मद्रास (अब चेन्नई) का है। 1901 में कोलकाता भारत का एक नगर मात्र था। उसकी जनसंख्या दस लाख से कुछ ही ज्यादा थी। मुंबई को महानगर का दर्जा 1911 में मिला। दिल्ली, चेन्नई तथा हैदराबाद इस मंडली में 1951 में शामिल हुए। 1981 की जनगणना के अनुसार अन्य महानगर हैं : अहमदाबाद, तथा बंगलौर (1961), कानपुर तथा पुणे (1971), तथा लखनऊ, नागपुर और जयपुर (1981)।

इस प्रकार 1981 में भारत में बारह महानगर थे जिनमें देश की नगरीय जनसंख्या का 25 प्रतिशत निवास करता था।

नगरीय जीवन की विशिष्टताएं

नगरीय जीवन के अध्ययनकर्ताओं ने कुछ उन प्रमुख विशेषताओं की पहचान की है जिनके कारण नगरों और कस्बो का जीवन ग्राम जीवन से अलग होता है :

1. नगरीय संदर्भ में परंपरागत सामाजिक संरचना ढीली होने की प्रक्रिया से गुजरती है तथा इसके प्रतिमान काफी शिथिल हो जाते है। परिणामत परिवार, नातेदारी तथा जाति के प्रकार्यो का ह्रास होता है।
2. मानव संबधों का स्वरूप अधिक औपचारिक तथा निर्वैयक्तिक होने लगता है।
3. नगरों में व्यक्तियों और समूहों के बीच आदान-प्रदान तर्कशील लाभ-हानि की गणना से परिचालित होने लगते हैं। कर्मकांडीय तथा नातेदारी दायित्व हलके हो जाते हैं। जाति तथा समुदाय की भावनाएं आर्थिक तर्क के नीचे दब जाती हैं। इसके परिणामस्वरूप दृष्टिकोण का धर्मनिरपेक्षीकरण होता है।
4. नगरीकरण अधिक प्रकार्यात्मक विशेषज्ञता तथा श्रम विभाजन को जन्म देता है।
5. नगरीय जीवन समुदाय संगठनों तथा स्वैच्छिक संबंधों के इर्दगिर्द संगठित होता है।
6. कस्बों में पर्याप्त सास्कृतिक, शैक्षिक, मनोरंजन संबंधी तथा धार्मिक संसाधन होते हैं जो संस्था का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

7. नगरीय क्षेत्र पूर्ण रूप से समाज में आधुनिकीकरण को प्रेरित करते हैं।

कुछ अपवाद छोड़कर ये विशेषताएं महानगर तथा अन्य श्रेणी-एक के सभी नगरों के लिए मान्य हैं। कुछ हद तक ये श्रेणी-दो के नगरों पर भी लागू होती हैं। किंतु अधिकतर नगरो के भीतर ही संपुटित गांव भी होते हैं जो थोड़ी बहुत-हेर-फेर के साथ पीढ़ी दर पीढ़ी अपने ग्रामीण तौर-तरीके जारी रखते हैं। सभी बड़े नगरों में मलिन बस्तियां और झुग्गी झोपड़ियां हैं। इन मलिन बस्तियों तथा झुग्गी-झोपड़ियों में मूलतः ग्रामीण आचार-व्यवहार जारी रहता है यद्यपि वे कुछ नगरीय विशेषताएं भी आत्मसजग रूप में अंगीकार करते हैं। कुछ नगरीय केंद्र—मंदिर नगरियां तथा तीर्थस्थल—परंपरागत धार्मिक विश्वासों, आचारों तथा सांस्कृतिक मूल्यों का संवर्धन जारी रखते हैं। अनेक नगरों के केंद्रीय क्षेत्रों में कुछ समायोजनों तथा अनुकूलनों के साथ परपरागत जीवनशैली चलती रहती है।

छोटे कस्बे, विशेषकर पुराने कस्बे, बहुत अधिक बढ़ गये गांवों जैसे होते है। उनमें परंपरागत संस्थाएं सुदृढ़ बनी रहती हैं। परंपरागत सामाजिक संरचना के विखंडन का कोई निर्णयात्मक साक्ष्य नहीं है। परिवार, नातेदारी तथा जाति में कुछ अनुकूलन होते हैं किंतु उनकी प्रकार्यात्मकता का क्षरण नहीं होता। संपन्न लोग परंपरा के प्रति अपना लगाव सुस्पष्ट तरीकों से प्रदर्शित करते हैं। कर्मकांड तथा समारोह आडंबरपूर्ण तथा सुरुचिहीन प्रदर्शनवाद के अवसर बन जाते हैं। निर्धन समारोहों में अपनी सामर्थ्य से बाहर खर्च करते हैं क्योंकि उनकी संस्कृति में ये चीजें उनके अस्तित्व का सार हैं तथा प्रतिष्ठा व सामाजिक दायित्वों से जुड़ी हैं। ऐसे अवसरों पर विवेकशीलता ध्वस्त हो जाती है तथा निर्वैयक्तिक जीवन प्रवाह भी अंशतः रूपांतरित होता है। दृष्टिकोण का धर्मनिरपेक्षीकरण अवश्य होता है किंतु इतना नहीं कि उससे सांप्रदायिक तथा कट्टरपंथी पूर्वग्रहों का उन्मूलन हो सके। कुछ भारतीय कस्बों तथा नगरों में धर्मो के बीच तनाव रहता है। वहां प्रायः सांप्रदायिक दंगे होते रहते हैं। विशेषज्ञता तथा श्रमविभाजन रहता है किंतु नगरीय क्षेत्रों में अकुशल श्रम की भीड़ की रेलपेल को अनदेखा नहीं किया जा सकता। नागरिक संस्थान निर्धनों की समस्या से निपटने में स्वयं को प्रायः असहाय पाते हैं। निर्धनों के सामुदायिक संगठनों का सरोकार कल्याणकारी उपायो तथा विकास के बजाय समारोहों से अधिक रहता है। कुछ स्वैच्छिक संगठनों ने अच्छा काम किया है लेकिन वे समान्यतः धन की कमी तथा अपने कार्यकर्ताओं में सतत रुचि के अभाव से पंगु बन जाते हैं। नगरों के पर्याप्त सांस्कृतिक तथा कल्याणकारी संसाधन भी गरीबों को महज सुलभ नहीं होते तथा उनसे उन्हें व्यावहारिक रूप में

कोई लाभ नहीं मिल पाता। नगरीय क्षेत्र निश्चय ही आधुनिकीकरण की प्रेरणाओं को जन्म देते हैं लेकिन यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उनकी संरचनात्मक विशेपताएं तथा सीमाएं ठहराव तथा बर्बादी को भी बढ़ाती हैं।

नगरीय क्षेत्र में वर्ग ध्रुवीकरण तीखा तथा प्रभावकारी है। कुछ वैभवपूर्ण जीवन जीते हैं। उन्हें धन से खरीदा जा सकने वाला हर सुख प्राप्त होता है। उनके पास इतने संसाधन होते हैं कि वे यह नही जानते कि इनका उपयोग कैसे किया जाये जबकि अनेक लोग बेरोजगारी, आवास, स्वास्थ्य और शिक्षा संबंधी समस्याओं का सामना करते हुए अति निर्धनता व अपमान का जीवन जीते है। और वे प्रायः एक सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक शून्य में रहते है। उनके भी सपने हैं, आशाएं हैं लेकिन वे उनके साकार होनें के विषय में सशंकित हें। इन दो परस्पर विपरीत ध्रुवों के बीच एक आकारहीन मध्यवर्ग है। इस वर्ग का उच्चार्ध एक कल्पना लोक में रहता है। वह धनिकों की जीवनशैली का अनुकरण करने का प्रयास करता है किंतु पर्याप्त ससाधनों के अभाव में स्वयं को विवश पाता है।

शहरी भारत की प्रमुख समस्याएं

शहरी भारत की असंख्य समस्याओं के बीच हम अपना ध्यान चार समस्याओं पर केंद्रित करेंगे : निर्धनता, आवास (या इसका अभाव), नागरिक सुविधाए, तथा गरीबों की महान सांस्कृतिक शून्यता।

भारत की लगभग आधी आबादी (या 41 प्रतिशत यदि हम सरकारी आंकड़ों पर विश्वास करे) गरीबी की रेखा के नीचे हैं। ग्रामीण भारत गरीबी को छिपाने और उससे निपटने मे ज्यादा सक्षम है, शहरी भारत ऐसा नहीं कर सकता। इसकी गरीबी बढ़ती जा रही है विशेषकर इसलिए क्योंकि लोग सुरक्षा की तलाश में अपने गांव छोड़ रहे हैं हालांकि सुरक्षा उन्हें शहरों में भी नहीं मिलती। नीचे दी गयी तालिका विचारणीय है जिसमें शहरी गरीबी के राज्यवार आंकड़े दिये गये हैं।

तालिका 2
भारत : शहरी निर्धन

राज्य	शहरी आबादी में शहरी निर्धनों का प्रतिशत
आंध्रप्रदेश	35.68
असम	37.37
बिहार	46.07

गुजरात	27.02
हरियाणा	31.74
हिमाचलप्रदेश	16.56
जम्मू-कश्मीर	39.33
कर्नाटक	43.97
केरल	51.44
मध्यप्रदेश	48.09
महाराष्ट्र	31.66
मणिपुर	25.98
मेघालय	18.16
नागालैंड	4.11
उड़ीसा	12.19
पंजाब	24.66
राजस्थान	33.80
तमिलनाडु	44.79
त्रिपुरा	26.34
उत्तरप्रदेश	49.20
पश्चिम बंगाल	34.71

यह गरीबी विशेषकर पोषण, स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्र में जीवन की गुणवत्ता के स्तर पर सीधा असर डालती है।

आवास की दृष्टि से स्थिति भयावह है। आवास की कमी अत्यंत विचारणीय है।

तालिका 3

भारत : शहरी आवास (दस लाख में)

वर्ष	आवश्यकता	उपलब्धता	कमी
1951	12.50	10.30	2.20
1961	15.78	14.06	1.72
1971	21.64	18.41	3.23
1981	31.94	27.60	4.34

शहरी क्षेत्रों में अनेक लोग बेघर हैं। 1981 में 12 महानगरों में आवास की स्थिति निम्न तालिका में दर्शायी गयी है :

तालिका 4
भारत के बारह महानगरों में बेघरों की जनसंख्या, 1981

नगर	नगरीय बेघर जनसंख्या का प्रतिशत
कोलकाता	10.40
मुंबई	7.15
दिल्ली	3.64
चेन्नई	1.31
बंगलौर	2.34
अहमदाबाद	0.54
हैदराबाद	0.87
पुणे	0.52
कानुपर	1.96
नागपुर	0.40
जयपुर	0.53
लखनऊ	1.15

यहां प्रदर्शित बेघरों का प्रतिशत भ्रामक गोकि अहानिकर दिखायी पड़ता है लेकिन जब नगरों की कुल जनसंख्या के संदर्भ में उनकी संख्या देखी जाती है तो स्तब्धकारी आंकड़े सामने आते हैं। सर्वव्यापी मलिन बस्तियों में रहने वालों की संख्या बहुत अधिक है।

समाजवैज्ञानिकों ने फुटपाथ पर रहने वालों और झुग्गी-झोपड़ियों, मलिन बस्तियों में रहने वालों की संस्कृतियों के कोई सुसंगठित अध्ययन नहीं किये हैं। हमारे पास केवल कुछ सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण उपलब्ध हैं जो केवल आंकड़े ही प्रदान करते हैं। दूसरी ओर उपन्यासकारों, लघु कथाकारों और कुछ आपवादिक फिल्म निर्माताओं ने उनकी जीवनशैलियों, उनके जीने के तरीकों के भीतर गहरी और छेदक अंतर्दृष्टि प्रदान की है। झुग्गी-झोपड़ियों में तमाम सरल, मेहनतकश स्त्री-पुरुष रहते हैं लेकिन इन्हीं में अवैध शराब बेचने वाले दादा, सट्टेबाज और

तस्कर भी हैं। उनके यहां अपराधों और देह व्यापार के अड्डे हैं। ये पक्ष शहरी जीवन का बदसूरत चेहरा प्रस्तुत करते हैं।

तालिका 5

भारत : महानगरों में शहरी मलिन बस्तियों की जनसंख्या (1981)

नगर	कुल जनसंख्या (दस लाख में)	कुल जनसंख्या में मलिन बस्तियों की जनसंख्या का प्रतिशत
कोलकाता	9.143	35.35
मुंबई	8.243	38.30
दिल्ली	5.729	30.19
चेन्नई	4.289	31.87
बंगलौर	2.921	10.20
अहमदाबाद	2.548	26.16
हैदराबाद	2.545	21.28
पुणे	1.686	—
कानुपर	1.639	40.00
नागपुर	1.302	—
जयपुर	1.015	15.62
लखनऊ	1.007	38.83

गरीबों के लिए नागरिक सुविधाएं नाममात्र को हैं। पानी के नल सुबह और शाम केवल एक घंटा काम करते हैं। चूंकि मलिन बस्तियों में केवल कुछ सार्वजनिक नल ही होते हैं अतः वहां अपने-अपने बर्तन भरने के लिए अपनी बारी का इंतजार करते लोगों की लंबी कतारें होती हैं। अधिकतर हैंडपंप खराब हालत में हैं। कुछ जो काम कर रहे हैं उनसे जरूरत से ज्यादा काम लिया जाता है। मलिन बस्तियों में शौचालयों की संख्या नगण्य है। अधिकतर लोगों को खुले में निवृत्त होना पड़ता है। सुअर और आवारा कुत्ते कुछ सफाई का काम कर देते हैं लेकिन वे बीमारी भी फैलाते हैं। सड़कें और गलियां कीचड़ से भरी रहती है। प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों में पर्याप्त कर्मचारी तथा दवाएं उपलब्ध नहीं हैं। महत्वपूर्ण जीवन

रक्षक दवाओं की आपूर्ति सदैव कम रहती है तथा ये दवाविक्रेताओं से खरीदनी पड़ती हैं। पाठशालाओं का माहौल अप्रीतिकर है और वे केवल नाममात्र के निर्देश देती हैं। सार्वजनिक परिवहन महंगा है और उसमें बहुत भीड़ होती है। सिनेमा और वीडियो पार्लर कुछ मनोरंजन प्रदान करते हैं जिसे मदिरा, मादक द्रव्य तथा जुए से पूरा किया जाता है।

फुटपाथ पर और झुग्गी झोपड़ियों में रहने वाले अधिकतर लोग स्वयं को अपने पारंपरिक ठिकाने-परिवेश से कटा हुआ और एक सांस्कृतिक शून्य में पाते है। उनमें से अनेक अपने परिवारों से दूर रहते हैं जो स्वयं को शहरी लोकाचारों के अनुकूल ढाल पाने में असमर्थ हैं। वे एकाकी जीवन जीते अथवा कुसंगत में पड़ जाते हैं। परिवार के साथ रहने वाले भी कई समस्याओं का सामना करते हैं। पुरुप जव काम पर वाहर गये होते हैं तब मलिन बस्तियों में रह गयी स्त्रियों के लिए अधिक सुरक्षा नहीं होती। पैतृक सत्ता कमजोर हो जाने के कारण किशोरों को संभालना, उन पर नियंत्रण रख पाना कठिन हो जाता है। कुछ मादक द्रव्यों का सेवन करने लगते हैं, कई अपराधी बन जाते हैं। एक वड़ी जनसंख्या इस शहरी दुःस्वप्न के घेरे में है। उदाहरण के लिए कोलकाता मे मलिन वस्तियों की आवादी वहां कुल आवादी का 32 प्रतिशत है; मुंबई में यह 25 प्रतिशत और चेन्नई में 24 प्रतिशत है।

समापन

भारत मे शहरीकरण की दर चिंताजनक नहीं लेकिन इस प्रक्रिया की विकृतियां और असंतुलन भयावह हैं। ग्रामीण समुदायों के विकास के लिए अधिशेष श्रम का ग्रामीण से शहरी क्षेत्रों में उत्प्रवास जरूरी है जहां उन्हें लाभप्रद रोजगार मिल सकता है। वर्तमान स्थिति में गांवों और नगरीय क्षेत्रों मे ऐसे प्रेरक कारक कार्यरत हैं जिनके कारण ग्रामीण जनता का नगरों की ओर खिंचाव जारी रहेगा। इसके अतिरिक्त कस्बो तथा नगरों की जनसंख्या में स्वाभाविक वृद्धि होगी। यह अपरिहार्य है। किंतु सामाजिक परिदृश्य की विकृति को रोकने के लिए इस आप्रवास का अधिक सावधानीपूर्ण नियोजन तथा कुशल प्रवंधन आवश्यक होगा।

भारत में आप्रवासियों के लिए ऐसे सुनियोजित समुदायों की जरूरत है जो आवास, सार्वजनिक परिवहन, जलापूर्ति, विजली, सफाई, निरोधात्मक तथा उपचारात्मक औषधियों, शिक्षा, तथा मनोरंजन के क्षेत्र मे समुचित सुविधाओं से युक्त हों। अतिनगरीकरण—पर्याप्त नागरिक सुविधाओं के बिना जनसंख्या में

वृद्धि–तथा अल्पनगरीकरण–निकटवर्ती क्षेत्रों में भूमि का बढ़ता गैरकृषीय उपयोग तथा बाद में उनका नगर सीमाओं में समावेश–इन दोनों के कुछ खतरे हैं। गरीबों की जरूरतों को ध्यान में रखना आवश्यक है तथा उन्हें एक स्वीकार्य जीवनस्तर का आश्वासन मिलना जरूरी है। जब तक यह नहीं किया जाता तब तक मलिन बस्तियां सड़ता हुआ नासूर बनी रहेंगी और नगरीय जीवन प्रवाह में अवरोध पैदा करती रहेंगी। स्थिति वास्तव में विस्फोटक हो सकती है।

7

स्त्री-पुरुष संबंध

भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति बहुत अस्पष्ट है। कुछ पवित्र ग्रंथों में 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' कहकर उन्हे अत्यंत ऊंचा स्थान दिया गया है। मातृदेवी के दुर्गा, काली, चंडी या अन्य कई नामों और रूपों में उसे शक्ति का प्रतिनिधि माना जाता है। वह मन में भय और श्रद्धा दोनों जगाती है। वह रक्षा कर सकती है और भिन्न परिस्थितियों में वह प्रतिशोध में विनाशलीला भी कर सकती है। प्रसन्न होने पर वह प्रत्येक इच्छा पूरी कर सकती है, क्रुद्ध होने पर वह अभूतपूर्व विभीषिका ला सकती है। देवता उसके समक्ष स्वय को असहाय पाते हैं और जब वह सक्रिय होने का निर्णय करती है तब वे हस्तक्षेप नहीं करते। उसकी कुछ विशेषताएं सभी स्त्रियों में सन्निहित मानी जाती हैं। लेकिन स्त्री की एक और तस्वीर है और इसे भी धार्मिक लेखन तथा लोकगीतों मे प्रबल समर्थन प्रदान किया गया है। उसे चंचल और कमजोर माना जाता है। वह ऐंद्रिक, बहकाने वाली, मिथ्यावादिता, मूर्खता, लालच, धूर्तता, अपवित्रता में प्रवृत्त तथा बिना विचारे काम करने वाली है। इस प्रकार उसे सभी बुराइयो की जड़ माना जा सकता है। उसके इस तथाकथित असंगत चरित्र के कारण उसे कठोर नियंत्रण में रखना आवश्यक है। कमजोर होने के कारण उसे अपने जीवन के सभी चरणों में सुरक्षा चाहिएः बचपन में पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में—पति की मृत्यु के बाद—पुत्रों द्वारा। स्त्री की ये दोनों छवियां परस्परविरोधी हैं। स्वीकृत रूढ़ रूपों में झुकाव नकारात्मक और अपमानजनक छवि की ओर है। प्रसिद्ध कवि तुलसीदास ने अपनी एक बहुउद्धृत चौपाई में स्त्री को शूद्रों, गवारों, और ढोल के साथ रखा है जिन्हें सन्मार्ग पर रखने के लिए ताड़ना की आवश्यकता है। चूंकि स्त्री कथित रूप से हीन लिंग की मानी जाती है अतः उसे कुछ ऐसे अधिकारों और विशेषाधिकारों

से वंचित रहना पड़ा जो एकातिक रूप से पुरुषों के माने जाते हैं।

अधीनता की यह विचारधारा, जो मुख्यतः हिंदू धर्म से लेकिन इसके साथ ही इस्लाम तथा ईसाई धर्म से भी जुडी है, व्यापक है और यह लगभग संपूर्ण भारतीय समाज की विश्वदृष्टि और लोकाचार में प्रवेश कर गयी है। निस्संदेह, इसके कुछ अपवाद भी हैं जो स्त्री को अधिक समानता और स्वतंत्रता को अनुमति देते हैं।

वे कौन से प्रधान क्षेत्र हैं जहां स्त्रियों पर नियंत्रण रखा जाता है ? प्रथम, उनके यौन संबंध पुरुषों की तुलना में कही अधिक कठोरतापूर्वक नियंत्रित होते है। स्त्री अधिक आसानी से अपवित्र हो जाती है और सामाजिक रुखों के मद्देनजर उसके मायके और ससुराल दोनों परिवारो की बदनामी होती है। लड़कियों का उनकी वयःसंधि (प्रथम मासिक धर्म) से पूर्व ही विवाह कर देने के प्रतिमान के पीछे उनकी पवित्रता की रक्षा की ही बात है। यौन संबंध के नियंत्रण में प्रजनन (संतानोत्पत्ति) का नियत्रण सन्निहित है। दूसरे, स्त्रियो के आने-जाने और लोगों से मिलने-जुलने पर भी प्रतिबंध है। इसके पीछे आरोपित विचार यह है कि स्त्री को यौन प्रतिमानों को तोड़ने के प्रलोभन मिलने के अवसर न मिलें और वह इन प्रतिमानों का पालन करती रहे। इसके अतिरिक्त इस तरह उसके संसाधन—संपत्ति, नगदी, श्रम तथा कौशल—का भी कोई शोषण न कर पाये, न उसमें कोई हिस्सा बंटा पाये। निम्नतर वर्ग की स्त्रियों को अपने घर का खर्च पूरा करने के लिए काम करना पड़ता है और इससे उन्हें घरेलू समूह की चारदीवारी से बाहर निकलना पड़ता है। इस प्रकार ये विनियमन उच्च और मध्य स्तर के परिवारों पर ही अधिक लागू होते हैं। तीसरे, ऐसा माना जाता था कि स्त्री के संसाधनों के लिए विनियमन और नियंत्रण की आवश्यकता होती है। अधिकतर स्त्रियों के लिए उनके मुख्य संसाधन है उनका श्रम और कौशल। वे बाहर के काम करके आय अर्जित कर सकती हैं या पारिवारिक शिल्प में भागीदार हो सकती हैं, या उनमें ऐसे कोई विशेष कौशल हो सकते हैं, जिन्हें मान्यता मिलती है और ये लाभप्रद रूप में इस्तेमाल किये जा सकते हैं। इस संदर्भ में ये प्रश्न उठते हैं : अपनी कमाई का कितना हिस्सा वे अपनी इच्छा से खर्च कर सकती हैं, कितना बचा सकती हैं और परिवार की कमाई में उन्हें कितना योगदान देना पड़ सकता है ? उच्च और मध्य वर्ग की स्त्रियां अपने साथ कुछ सपत्ति ला सकती हैं जिसे कानूनी तौर पर स्त्रीधन माना जाता है। क्या इस संपत्ति का इस्तेमाल वे अपनी इच्छा से कर सकती हैं ? अथवा उन पर इस बात के दबाव हैं कि वे इसका उपयोग परिवार की साझी

परियोजनाओं को सहारा देने अथवा पारिवारिक संकट से पार पाने में करें।

ये नियंत्रण किस तरह लागू किये जाते हैं यह बहुत कुछ सामाजिक संरचना, निर्धारित भूमिका, नैतिक मूल्यों तथा सामाजिक नियंत्रण की कठोरता अथवा लचीलेपन पर निर्भर करता है। स्त्री-पुरुष संबंध के समीकरणों का निर्माण तथा पुनर्निर्माण बहुत कुछ ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक शक्तियों की परस्परक्रिया पर निर्भर करता है।

कुछ अपवादों को छोड़कर भारतीय सामाजिक व्यवस्था की विशेषता है पितृसत्ता। पितृसत्ता पुरुष के प्रभुत्व और स्त्री की अधीनता को मान्यता देती है। विवाह के अवसर पर वधू का अपने पैतृक घर से नाता टूट जाता है तथा वह उस परिवार की सदस्य हो जाती है जिसमें उसका विवाह होता है। उसकी संतानें उसके पति की वंश परंपरा मे होती हैं। परिवार के भीतर अधिकार पुरुष में—अधिकतर वंशपरंपरा के ज्येष्ठतम पुरुष में—निहित होते है। वह मुख्य निर्णयकर्ता होता है हालांकि उसे अन्य ज्येष्ठ पुरुषों से भी सलाह मशविरा करना पड़ता है। निर्णय लेने की प्रक्रिया मे स्त्री की उपस्थिति स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होती यद्यपि अनुभवी, दृढ़ इच्छा शक्तिवाली और परिपक्व स्त्रियां अपनी वात जोर देकर कहती हैं लेकिन वे प्राय पृष्ठभूमि में रहती हैं। कम उम्र की स्त्रियां भी पर्दे के पीछे से सूत्रधार बनी रहती हैं। इस प्रकार घरेलू समूह की राजनीति में स्त्रियों की भूमिका को अनदेखा नहीं किया जा सकता, लेकिन अंतिम विश्लेषण मे वे पुरुष प्रभुत्व पर गंभीरतापूर्वक कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगातीं। जब ऐसा किया जाता है तो परिवार जल्दी ही टूट जाता है। निस्सदेह, कुछ ऐसे परिवारों के उदाहरण भी मिलते हैं जिनकी मुखिया स्त्री है लेकिन यह तभी होता है जब बच्चे छोटे होते हैं और घरेलू समूह में केवल एक वयस्क स्त्री ही होती है जो घर का दायित्व संभाल सकती है। जव बच्चे बड़े हो जाते हैं तो उनमें ज्येष्ठतम पुत्र गृहस्थी का मुखिया पद संभाल लेता है।

अधिकतर जनजातीय समूह पितृवंशी होते हैं लेकिन उनमें पितृसत्ता बहुत सुस्पष्ट नहीं है। शासकों और प्रधानों के परिवार अपवाद हैं जो पुरुष प्रधान हैं। जनजातीय स्त्रियों को जंगलों और खेतों में काम करना पड़ता है। उन्हें कहीं आने-जाने और आर्थिक उत्तरदायित्व की पर्याप्त स्वतंत्रता है। सैद्धांतिक रूप में वे पुरुष श्रेष्ठता को स्वीकार करती हैं किंतु वे अधिकतर अपेक्षतया समतावादी लोकाचार के तहत काम करती है।

भारत में मातृवंशी समाज के छोटे सीमित केंद्र हैं। लेकिन जैसाकि हम पहले

ही देख चुके हैं, मातृसत्ता के प्रचलन का कोई साक्ष्य नहीं मिलता है। मातृवंशी समुदायों में वंश परंपरा का मूल स्त्री के माध्यम से खोजा जाता है लेकिन राजनीतिक सत्ता सामान्यतः पुरुष में निहित होती है। भूमि तथा अन्य संपत्ति का उत्तराधिकार स्त्री की परंपरा में रहता है किंतु उसकी देखभाल, प्रबंधन अधिकांशतः पुरुष करते हैं। मातृवंशी व्यवस्था स्त्री को कुछ विशेष गरिमा तथा हैसियत प्रदान करती है यद्यपि स्त्री और पुरुष के कार्यक्षेत्र और अधिकार क्षेत्र अलग-अलग चिह्नित होते हैं। एक खासी कहावत है : 'युद्ध और राजनीति पुरुषों के लिए है जबकि सपत्ति और बच्चे औरतों के लिए हैं।' उनमें शासक, मुखिया तथा शक्ति का इस्तेमाल करने वाले बुजुर्ग सभी पुरुष हैं किंतु स्त्रियों की महत्वपूर्ण आर्थिक भूमिकाएं है। उदाहरण के लिए खासी स्त्रिया छोटी दुकानें चलाती हैं तथा स्थानीय व्यापार में लगी हैं। नायर, जो केरल के हिंदू समाज के अंग हैं, भूस्वामी अथवा खेती न करने वाले काश्तकार थे। उनकी स्त्रियां घर के भीतर सीमित थीं, और पुरुष सेना में सेवारत थे। उनकी तारावाड़ संपत्ति की स्वामी तथा उत्तराधिकारी स्त्रियां होती थीं। लेकिन उसकी देखभाल 'कार्नवार' (प्रबंधक) करता था जो मातृवंश का कोई वरिष्ठ और जिम्मेदार पुरुष (मामा, भाई अथवा नानी का भाई) ही होता था। लगभग यही स्थिति लक्षद्वीप द्वीपसमूह के मातृवंशी मुसलमानों में है। केरल और कर्नाटक के केवल कुछ ही मातृवंशी वंशो में स्त्रियों को घरेलू समूह का प्रमुख पद प्राप्त करने का अधिकार था।

मातृवंशी व्यवस्था इस समय दबाव में है। समकालीन सामाजिक परिवेश इसकी कार्यपद्धति में कुछ परिवर्तन लाये जाने का दबाव डाल रहा है। परिवर्तन के प्रमुख कारक हैं बाजार अर्थव्यवस्था, आधुनिक शिक्षा, बढ़ी हुई भौगोलिक गतिशीलता, तथा नये रोजगार अवसर। पति-पत्नी और बच्चों की इकाइयों में विशेषकर अजनबी परिवेश में, मातृवशी परंपरा उसी तरह काम नहीं कर सकती जैसाकि वह पारंपरिक परिवेश में करती थी। नायर तारावाड़ टूट रहे हैं क्योंकि नये कानून ने विवाह के अंतर्निहित सिद्धांत को बदल दिया है और व्यक्तियों को पूर्वजों की संपत्ति मे हिस्सा पाने का अधिकार दे दिया है। स्वयं अर्जित संपत्ति को ध्यान में रखकर खासी भी अब अपने कानून में परिवर्तन ला रहे हैं। किंतु मातृवंशी विचारधारा के पूरी तरह समाप्त हो जाने की संभावना नहीं है क्योंकि स्त्रियां मातृवंशी परंपरा आगे चलाती रहेंगी, पूर्वजों की संपत्ति में उनका हिस्सा होगा और वे उसी सम्मान और प्रस्थिति की मांग करेंगी जो उनके पारंपरिक प्रतिमानों और मूल्यों द्वारा उन्हें प्रदान किये गये थे।

भारतीय समाज में भूमिका निर्धारण के सदंर्भ में 'पुरुष के कार्य' और 'स्त्रियों के कार्य' में भेद किया गया है। गृहस्थी के प्रबंध का काम निरपवाद रूप से स्त्री के क्षेत्र में आता है। यदि वे घरेलू कामकाज में हाथ बटाने के लिए कोई सेवक नही रख सकती हैं–कुछ ही लोग घरेलू सेवक रख पाते हैं–तो स्त्रियों को घर के सारे कामकाज खुद ही करने पड़ते हैं जैसे पानी भरना, खाना पकाना, घर की सफाई, अपने और घर के पुरुषों और बच्चों के कपड़े धोना तथा बच्चों की देखभाल। पुरुष यदि इनमें से कोई काम करते दिख जायें तो उनका उपहास किया जाता है। पुरुष ये काम तभी कर सकते हैं यदि पत्नी घर पर न हो, या अस्वस्थ हो तथा उसका काम संभालने वाली कोई अन्य स्त्री घर में न हो। यह धारणा इतने गहरे जमी हुई है कि व्यवसायों में कार्यरत तथा पूर्णकालिक सेवारत स्त्रियों से भी अपेक्षा की जाती है कि वे इसके अतिरिक्त गृहस्थी के काम-काज भी देखती रहें। बहुत सी स्त्रियां जब अपने घरेलू दायित्व नहीं पूरे कर पातीं तो उन्हें अपराध बोध न भी हो तो एक अपर्याप्तता तो महसूस होती ही है। दूसरी ओर, पुरुषों से घर के बाहर की दुनिया के कामकाज देखने की अपेक्षा की जाती है। उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे परिवार का भरण-पोषण करें तथा उसके असंतोषों तथा संघर्षो की स्थिति मे पंच के रूप मे काम करें।

पुरुषों का वर्चस्व रहता हैं किंतु स्त्रियों के भी अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं के अनुरूप काम करवाने के अपने तरीके होते हैं। निम्नतर जातियों और वर्गो में पारिवारिक समूह के आर्थिक व्यवसायों में उनका महत्वपूर्ण हिस्सा होता है। वे हल न भी संभाले लेकिन कृषि में अनेक प्रकार से अपना योगदान देती हैं। दस्तकार परिवारों में पारंपरिक शिल्प का काम पूरा करने में उनकी भूमिकाएं सुपरिभाषित हैं। इस प्रकार पारिवारिक अर्थव्यवस्था में उनके योगदान को अनदेखा नहीं किया जा सकता। उच्चतर सामाजिक समूहों में पुरुष भरण-पोषण करने वाले होते थे किंतु अब यह स्थिति भी तेजी से बदल रही है। स्त्रियां सार्वजनिक सेवाओं तथा व्यवसायों में प्रवेश कर रही हैं और नियमित वेतन अर्जित कर रही हैं। अंशतः बढ़ती कीमतों तथा उच्चतर जीवन स्तर की इच्छाओं के कारण इस प्रवृत्ति को स्वीकार करना ही पड़ेगा। किंतु पुरुषों को यह अच्छा नहीं लगता कि उनका खर्च उनकी पत्नी उठाये। जब उनकी पत्नियां उनसे ज्यादा कमाती हैं तो उनके अहम् को चोट लगती है। अब उभरती प्रवृत्ति पितृसत्ता के पक्ष में नहीं है किंतु अतीत की धुंध जल्दी खत्म नहीं होती है। समाज स्वयं को बदलते परिदृश्य के अनुरूप ढाल रहा है चाहे इस अनुकूलन की गति बहुत धीमी ही क्यों न हो।

हिंदू समाज का पितृवंशी भाग स्त्री में अनेक चारित्रिक गुणों की अपेक्षा करता है। उनमे से पहली है पतिव्रत्य या सतीत्व। विवाह से पूर्व स्त्री को किसी पुरुष के विषय में यौन संदर्भ में नहीं सोचना चाहिए; विवाह के बाद अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष का विचार मन में न लाये। दूसरा चारित्रिक गुण है अपने पति के प्रति समर्पण। पति परमेश्वर—पति ही परम ईश्वर है—की धारणा का उल्लेख व्यापक रूप से किया जाता है तथा स्त्रियां यह सुनिश्चित करने के लिए अनेक व्रत रखती हैं कि उन्हे जन्म-जन्मांतर में वही पति मिले। इन उपवासों में पति की दीर्घायु की प्रार्थनाएं भी की जाती हैं ताकि पत्नी को वैधव्य के कष्ट न सहने पड़ें। वहुचर्चित 'सती' की धारणा के तहत स्त्री अपने पति की चिता में स्वयं को भस्म कर देती है। निश्चय ही, इस प्रथा पर कानूनी प्रतिबंध है और समकालीन भारत में सती होने के मामले वास्तव में बहुत कम हैं। इस संदर्भ में महत्वपूर्ण यह है कि सती की धारणा की हिंदू मानस पर जबर्दस्त पकड़ है। सती स्थलों पर प्रायः मंदिर बना दिये जाते हैं और वहां होने वाले मेलों में भारी भीड़ जुटती है। तीसरे, पत्नी से यह अपेक्षा होती है कि जिस परिवार में उसका विवाह हुआ है वह उसके ही ढांचे में अपने को ढाल ले तथा अपनी निजी पहचान को अपने पति की पहचान में विसर्जित कर दे। आखिरकार उसके अस्तित्व का उद्देश्य ही है, अपने पति की छाया बनकर रहना। उसे जीवन पथ पर उसकी अनुगामिनी रहना है। जरूरत के समय वह उसके साथ खड़ी हो उसकी ताकत मे अपनी ताकत जोड़ दे। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि ये सब आदर्श चारित्रिक मूल्य थे और यह माना जाता था कि अनेक स्त्रियां इन पर पूरी नहीं उतरती थीं।

इस प्रकार अनेक जातियों तथा समुदायों—वस्तुतः आबादी के एक विशाल हिस्से—में तलाक तथा विधवा विवाह की अनुमति है। निर्धनता की संस्कृति में इस तरह के प्रतिमानों का पालन संभव नहीं हैं। जनजातीय समूहों में तथा मातृवंशी समूहों में भिन्न प्रतिमान हैं। किंतु कुछ पारिवारिक चारित्रिक गुण जैसे मितव्ययिता, कठोर परिश्रम तथा परिवार के अन्य सदस्यों का ध्यान रखना सभी समुदायों और समाज के हर स्तर पर अपेक्षित है। स्त्री का वंध्या होना अभिशाप माना जाता था। पितृवंशी समूहों में वंश परंपरा चलाने के लिए उससे अपेक्षा की जाती थी कि वह पुत्र को जन्म दे। मातृवंशी समाजों में यह जरूरी नहीं माना जाता था यद्यपि यह वांछित था। किंतु पितृवंशी समाजों की तरह उनमें भी संतानोत्पत्ति एक सामाजिक आवश्यकता तथा एक सामाजिक मूल्य है।

प्रतिमानों और मूल्यों पर अमल बहुत हद तक नियंत्रण तंत्र की शक्ति

अथवा निर्बलता पर निर्भर था। मूल्यों का स्पष्ट कथन तथा सामाजिक-धार्मिक ग्रंथों में प्रतिमानों के आदेश का अर्थ यह नहीं है कि स्वतः उनका पालन होगा। जब परंपरा शक्तिशाली थी, तब भी संघर्षों के समाधान तथा उद्दंड सदस्यों को आदर्श संरचना का पालन करने पर विवश करने के लिए बुजुर्गों तथा जाति पंचायत अथवा ग्राम पंचायत जैसी सामाजिक संस्थाओं की मध्यस्थता तथा हस्तक्षेप जरूरी थे। सम्मान तथा कलंक की धारणाएं उच्चतर जातियों और ऊपरी वर्गों में प्रबल हैं। वे इस बात के लिए विशेष प्रयत्नशील रहते हैं कि पारिवारिक मामले घर से बाहर न जायें तथा मध्यस्थता का काम संबंधित परिवार के बुजुर्गों तथा स्त्री के माता-पिता और उसके नातेदार समूह के महत्वपूर्ण सदस्य करें। निम्नतर जातियों और वर्गों में प्रायः गोपनीयता नहीं बनी रह पाती और हस्तक्षेप जरूरी हो जाता है। वे भी कलंक के प्रति संवेदनशील हैं किंतु वे इसको लेकर बहुत सख्त नहीं हो सकते। परिवार के सम्मान की रक्षा पत्नी की पिटाई और अपराधी पक्षों के प्रति हिंसा के द्वारा भी जाती है। परिवार के भीतर की हिंसा का विस्तार मापा नहीं जा सकता। यह निम्नतर वर्गों में बहुत साफ दिखाई देता है। लेकिन ऊपरी स्तरों में भी ऐसा होता है। आजादी के इतने समय वाद भी वधू दहन तथा दहेज हत्याओं के समाचार अक्सर पढ़ने को मिलते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से छोटी हिंसा के अन्य रूप हैं . पत्नी और उसके पितृपक्ष से संबंधित व्यक्तियों का अपमान करना, पत्नी को आराम का मौका न देकर उससे बहुत अधिक काम कराना, उसे पर्याप्त पोषण प्रदान करने में असफल रहना और उनके मामलों में गुवार निकालने के लिए उसे मानसिक यंत्रणा देना। उच्च शिक्षाप्राप्त तथा सुस्थापित स्त्रियां भी इस तरह के दुर्व्यवहार से नहीं वच पातीं। हालांकि अब स्थिति बदल रही है।

असमान स्त्री-पुरुष संबंधों तथा स्त्रियों के प्रति जारी अन्याय ने समाजसुधारको का ध्यान आकृष्ट किया है। अनेक समाजसुधारक स्त्रियों के हित समर्थन में आगे आये हैं। मध्यकाल के कुछ संत कवियों ने स्त्रियों के प्रति अधिक मानवीय तथा न्यायपूर्ण व्यवहार करने का उपदेश दिया। सामाजिक तथा धार्मिक सुधार आंदोलनों—ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज तथा कुछ मुस्लिम सुधार आंदोलन—की कार्यसूची में स्त्री के अधिकारों और स्थिति को सुधारने की बात भी शामिल थी। वे सामान्यतः सामाजिक तथा कानूनी असमानताओं के विरुद्ध थे तथा उन्होंने वाल विवाह, विधवाओं के प्रति व्यवहार, स्त्री को संपत्ति अधिकार से वंचित रखे जाने तथा स्त्री शिक्षा की समस्याओं पर विशेष ध्यान दिया।

अपने शासनकाल के दौरान अंग्रेजों ने ऐसे समाजसुधारों से दूर रहने का प्रयास किया जो किसी भी तरह धर्म से संबंधित थे। कट्टरपंथ प्रबल था तथा वह विभिन्न समुदायों के सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रों में किसी भी हस्तक्षेप का विरोध करता था। किंतु अंग्रेजों को समाजसुधारकों के दबाव में कार्रवाई करनी पड़ी। सती उन्मूलन हुआ (1829), विधवा विवाह को विधिसम्मत बनाया गया (1856), कन्या शिशु हत्या पर प्रतिवध लगाया गया (1870), विशेष विवाह अधिनियम (1872) के तहत अंतरसमुदाय विवाहों की अनुमति दी गयी, सहमति की आयु बढ़ाकर बारह वर्ष की गयी (1891), बाल विवाह के विरुद्ध कानून बनाया गया (1929), मद्रास प्रांत में स्त्रियों को मताधिकार मिला (1921), तथा स्त्रियों को संपत्ति का सीमित अधिकार मिला (1937)।

सती प्रथा का उन्मूलन एक ऐसा सकारात्मक हस्तक्षेप था जिसने स्त्री को बहुत यंत्रणा से बचाया किंतु अपने पति की चिता पर स्त्री के आत्मदाह का महिमामडन अब भी जारी है। राजस्थान में रूपकंवर प्रकरण (1988) एक भावावेशपूर्ण मुद्दा बन गया था और उसने सती के समर्थकों और विरोधियों की भावनाएं उद्वेलित की थीं। द्विज जातियों में विधवाओं को अब भी नीची निगाह से देखा जाता है-यद्यपि उनमे से छोटी संख्या परंपरा की बेड़ियां तोड़कर पुनर्विवाह कर लेती है। कन्या शिशु हत्या अब भी जारी है। प्रतिवर्ष बालकों से 300,000 अधिक बालिकाएं शैशवकाल में मर जाती हैं। अनेक मौतों का कारण उदासीनता अथवा जान बूझकर की गयी लापरवाही को माना जाता है क्योंकि लड़की को 'भार' समझा जाता है। चिकित्सकीय तकनीकी में हाल में हुई एक प्रगति एम्नियो सिंटेसिस से अजन्मे शिशु का लिंग निर्धारण संभव हो गया है और इससे कन्या भ्रूण की हत्या आसान हो गयी है। मीडिया समाचारों के अनुसार एक वर्ष (1984) में केवल मुंबई नगर में ही कन्या भ्रूण हत्या के 40,000 मामले हुए थे। अब यह सुविधा लगभग सभी शहरों तथा अनेक कस्बों में भी उपलब्ध है। अंतरसमुदाय विवाहों का प्रतिशत बढ़ रहा है किंतु कुछ बाल विवाह भी हो रहे हैं जबकि इसके विरुद्ध कानून मौजूद है। मूल अधिनियम में विवाह की न्यूनतम आयु लड़की के लिए पंद्रह वर्ष तथा लड़के के लिए अठारह वर्ष थी। बाद में इसमें सशोधन कर लड़की के लिए सोलह और लड़के के लिए इक्कीस वर्ष की न्यूनतम आयु निर्धारित की गयी। लेकिन भारत के कुछ हिस्सों में अब भी सामूहिक विवाह होते है जहां बच्चों का (शिशुओं का भी) विवाह कर दिया जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद स्त्रियों को मताधिकार मिला और संपत्ति के स्वामित्व के अधिकार में भी

कुछ सुधार हुआ। किंतु अनेक समस्याएं अब भी बनी हुई हैं : कन्या बाल श्रम का शोषण, यौन शोषण और वेश्यावृत्ति के लिए लड़कियों को जोगन अथवा देवदासी के रूप में मंदिरों को समर्पित करना, परिवार तथा पड़ोस के परिवेश में लड़कियों का यौन उत्पीड़न। सामाजिक जागरूकता और सोद्देश्य सामाजिक सक्रियता के अभाव में सामाजिक कानून खोखले तथा अधूरे वादे रह जाते हैं।

हिंदू जाति सोपानबद्धता के निचले स्तरों से प्रारंभ होने वाले आंदोलन—उदाहरण के लिए ज्योतिबा फुले का सत्यशोधक आंदोलन—भी स्त्रियों के समर्थन में आगे आये। गांधी ने स्त्रियों को स्वतंत्रता संग्राम के लिए गोलबंद कर उन्हें उनकी अनेक बेड़ियों से मुक्ति दिलायी। यों भी वह स्त्रियों के हितों के समर्थक थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद स्त्रियां अनेक मोर्चे पर आगे बढ़ी हैं। ऐसे अनेक क्षेत्रों मे वे अधिक दिखाई देती हैं जो परंपरागत रूप से स्त्री के नही हैं तथा सामान्यतः वे अधिक स्वाग्रही हैं। लेकिन स्त्री-पुरुष संबंध सामान्यतौर पर असमान ही बने हुए हैं।

कानून, शिक्षा और अब आर्थिक तथा सामाजिक अवसरों के कारण स्थिति तेजी से बदल सकती थी किंतु राज्य बहुत सावधानी से आगे बढ़ रहा था। सभवत· वह एक परंपराबद्ध समाज में समुदायो की सांस्कृतिक संवेदनाओं को आहत नहीं करना चाहता था। सती उन्मूलन के बाद से विधान ने स्त्री की प्रस्थिति का अतिक्रमण करने वाले अनेक क्षेत्रों को छुआ है। बहुविवाह कुप्रथा को सुधारने के प्रयास किये गये हैं, विवाह की उम्र बढायी गयी है, दहेज विरोधी कानून हैं, विवाह विच्छेद कानूनों का उदारीकरण हुआ है, अभिभावकत्व संबंधी कानूनों मे भी कुछ परिवर्तन हुए है। भरण-पोषण संबंधी एक नया कानून बना है तथा उत्तराधिकार कानून अब स्त्रियो के अधिक अनुकूल है। किंतु कानून में हुए इन परिवर्तनों को लागू करने में कठिनाइयां हुई हैं। उनमें बचाव के रास्ते छूट गये हैं जिससे इन कानूनों का अभीष्ट पूरा नहीं हो पाता। हिंदू संहिता को पारंपरिक प्रथाओ के लिए छूट देनी पड़ी। पारिवारिक संपत्ति में अपना विधिसम्मत अधिकार पाने में उन्हें कठिनाई होती है, यहां तक कि स्त्री धन पर भी उन्हें पूरा अधिकार नहीं मिलता।

स्त्रियों के लिए शिक्षा के अवसर बढे हैं। अब अधिक लड़कियां शैक्षिक सस्थानो के सिंहद्वार के भीतर प्रविष्ट होती हैं। किंतु शैक्षिक संस्थानों मे भरती होने वाली लडकियों की सख्या लड़कों के मुकाबले कम है तथा बीच में ही स्कूल छोड़ देने की दर चिंताजनक रूप में ऊंची है। नये आर्थिक अवसर खुले हैं और

स्त्रियां उनका लाभ उठा रही हैं। उनके विरुद्ध एक अदृश्य भेदभाव अब भी होता है और जनसंख्या में उनके आकार के अनुपात में नियमित रोजगार क्षेत्र में स्त्रियों का प्रतिनिधित्व गंभीर रूप से बहुत कम है। राजनीति के क्षेत्र में भी ऐसा ही है। 1989 में सत्तारूढ़ दल (कांग्रेस आई) ने वादा किया था कि वह तीस प्रतिशत टिकट स्त्रियों को देगी लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। विपक्ष की स्थिति बेहतर नहीं थी। 1989 की संसद में महिलाओं की संख्या पहले की संसद की तुलना में कम थी।

भारतीय संविधान में एक अंतर्विरोध के कारण स्त्री-पुरुष भेदभाव के अनेक रूप सामने आये हैं। संविधान सुनिश्चित करता है कि कानून के समक्ष सभी समान हैं। वह धर्म, प्रजाति, जाति, लिंग तथा जन्मस्थान के आधार पर किसी भी तरह के भेदभाव का निषेध करता है किंतु, वह धर्म की स्वतंत्रता—मुक्त रूप से धर्म स्वीकार करने, उस पर आचरण करने और उसका प्रचार करने की स्वतत्रता—भी सुनिश्चित करता है। धार्मिक स्वतंत्रता का यह प्रावधान संविधान द्वारा स्त्री को दी गयी स्वतंत्रता और समानता को काफी कुछ छीन लेता है। परिवार तथा वैयक्तिक कानूनों का मूल धार्मिक संहिताएं ही हैं, अतः स्त्रियों को परिवार के भीतर अथवा संपत्ति में समान अधिकार नहीं मिलता। उनमें से अनेक को यह निर्णय करने की स्वतंत्रता नहीं होती कि विवाह के बाद वे कहां रहेंगी। कुछ भरण-पोषण के अधिकार से वंचित हैं, कुछ को विवाह विच्छेद में बहुत कठिनाई होती है और कुछ कानूनी तौर पर कोई बच्चा गोद नहीं ले सकतीं। समान नागरिक संहिता की बड़ी-बड़ी बातें की जाती हैं किंतु कट्टरंपथ तथा मोर्चाबंद निहित स्वार्थों की ओर से होने वाला विरोध देश के राजनीतिक नेतृत्व को हतोत्साहित कर देता है जो भविष्य में किसी अधिक अनुकूल समय के लिए ऐसी पहलों को टाल देता है। संभावित राजनीतिक परिणाम और परिणामस्वरूप धार्मिक समुदायों के विमुख होने तथा वोट बैंक हाथ से निकल जाने का भय प्रगतिशील विधिनिर्माण की राह में रोड़ा है। इस प्रक्रिया में स्त्रियों को समानता नहीं मिल पाती।

सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था स्त्री-पुरुष असमानता को जारी रखने की ओर झुकी प्रतीत होती है। ऐसा लगता है कि समानता का अभियान लंबा और कष्टप्रद होगा।

8

परिवर्तन की प्रवृत्तियां

समकालीन भारतीय समाज अंतर्विरोधों का पिटारा है जिसके कुछ पहलू अत्यंत पेचीदा हैं। निर्धनता के एक विशाल समुद्र में चकाचौंध कर देने वाली संपन्नता के कुछ द्वीप हैं। यह अपनी आध्यात्मिकता का दम भरता है किंतु इसका अभिजन—अमीर तथा शक्तिशाली वर्ग—आडम्बरपूर्ण उपभोग के ऐसे मापदंड स्थापित करता है जो एकदम अनैतिक लगते हैं। नयी आध्यात्मिकता के कुछ व्यक्तित्व जिनके अपने पंथ हैं—वाल योगेश्वर, महेश योगी, रजनीश—पश्चिम से पुनःआयातित हैं जिन्होंने विदेश में छाप छोड़ने के कारण स्वदेश में एक नयी प्रतिष्ठा अर्जित की है; बैठकों में होने वाले वार्तालापों में हरे राम हरे कृष्ण संप्रदाय (इस्कॉन) को पश्चिम पर भारत की विजय माना जाता है तथा श्री सत्य साईं बाबा के चमत्कारों का वर्णन सजीवता और दृढ़ विश्वास के साथ किया जाता है। और यह सब कुछ उस ऐसे समाज में होता है जो वैज्ञानिक मिजाज को बढ़ावा देने के प्रति अपने समर्पण का दावा करता है। सविधान ने अस्पृश्यता का उन्मूलन कर दिया है किंतु देश के अनेक भागों में ग्रामीण क्षेत्रों के प्रभावशाली लोग 'उन्हें उनकी औकात बताने' के लिए पाशविक उपायों का इस्तेमाल करने में नहीं हिचकिचाते। भारत को विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र कहा जाता है। विश्व का यह सबसे बड़ा लोकतंत्र अपराध और राजनीति के गठबंधन के कारण अनेक विकृतियों से ग्रस्त है। परिमाणात्मक दृष्टि से भारत में जनशक्ति का एक प्रभावोत्पादक बड़ा वैज्ञानिक तथा तकनीकी समूह है किंतु प्रतिभा-पलायन के कारण इसका कुछ हिस्सा विकसित देशों को चला जाता है जहां वेतन और काम की परिस्थितियां दोनों बेहतर हैं। इसका एक बड़ा हिस्सा पीछे यहां रह जाता है जो काम की प्रतिकूल दशाओं तथा रचनात्मकता के लिए पुरस्कार के अभाव के कारण कुंठित रहता है। देश के समक्ष अभी उन

ताकतों को रोकने का काम शेष है जो वातावरण को प्रदूषित करती हैं तथा पर्यावरण को विकृत करती हैं। एक समय लोकलुभावनवाद (पापुलिज्म) जनता को उत्साहित करता था लेकिन अब इसका उन पर कोई असर नहीं होता। संशयवादियों का कहना है कि नये भारतीय समाज का महल टूटे वादों की आधारशिलाओं पर बनाया जा रहा है।

स्थिति प्रायः निराशाजनक लगती है लेकिन इसके कुछ सकारात्मक पक्ष भी हैं। खाद्यान्न के मोर्चे पर प्रभावशाली उपलब्धियां हासिल हुई हैं और देश में अधिशेष अनाज है। एकमात्र रोड़ा यह है कि गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों में पर्याप्त भोजन खरीदने की क्षमता नहीं है और इस प्रकार प्रतिव्यक्ति उपभोग की दर कम बनी रहती है। सामान्य सामाजिक सुविधाएं जैसे सार्वजनिक परिवहन, चिकित्सा सुविधाएं (इसमें टीकाकरण शामिल है), शिक्षा, उपभोक्ता संरक्षण, आदि का पर्याप्त विस्तार हुआ है किंतु उनकी गुणवत्ता में अभी बहुत कुछ वांछित है। विज्ञान में, विशेषकर पौधों की नस्लें तैयार करने, परमाणु अनुसंधान तथा अंतरिक्ष अनुसंधान में प्रभावशाली उपलब्धियां दर्ज हुई हैं। सैन्य शक्ति की दृष्टि से भारत को एक प्रमुख क्षेत्रीय शक्ति की मान्यता प्राप्त है जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती। अपने आपमें संभव है यह कोई बड़ी महान उपलब्धि न हो लेकिन आज की कुंडलित दुनिया में इसका काफी महत्व है। लेकिन संभवतः सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन हैं लोगों में अपने अधिकारों के प्रति बढ़ी हुई जागरूकता। यद्यपि वे संगठित नहीं हैं लेकिन समय समय पर महत्वपूर्ण मुद्दों पर वे अपनी बात जोर देकर कहते हैं तथा सरकार को उनकी बात सुननी पड़ती है। भारतीय समाज में परिवर्तन की प्रवृत्तियों के लिए इन कारकों का निहितार्थ महत्वपूर्ण है।

असहमति और सुधार

हिंदू धर्म का उल्लेख प्रायः सनातन धर्म (अतीत से वर्तमान तक अटूट निरंतरता वाला) के रूप में होता है। इस अर्थ मे कि हिंदू दर्शन शाश्वत सत्य की खोज का प्रतिनिधित्व करता है, यह नाम मान्य है, किंतु हिदू धर्म निश्चय ही परिवर्तनहीन नहीं रहा है। हिंदू धर्म की अपर्याप्तताओं की मान्यता ने अनेक विपथगामी पंथों को जन्म दिया; प्रारंभ में उनका उपहास और तिरस्कार हुआ किंतु बाद में उन्हें मान्यता मिली और सामाजिक सम्मान भी दिया गया। भारतीय समाज पर उनके समग्र प्रभाव का आकलन कर पाना कठिन है किंतु निस्संदेह यह प्रभाव बहुत महत्वपूर्ण रहा है।

देश के विभिन्न भागों में संत कवियों ने असहमति के स्वर मुखरित किये और व्यापक सुधारों की दिशा में पहल की। उनमें से अनेक समाज व्यवस्था की असमानताओं और अन्याय के कटु आलोचक थे। उनमें से अनेक का जन्म निचली जातियों में हुआ था तथा वे जाति सोपानबद्धता के निचले स्तरों से थे। उदाहरण के लिए हिंदी क्षेत्र के कबीर जुलाहा थे तथा रैदास की जाति चमार थी, जो चमड़े का काम करती है और खेतिहर मजदूर है। महाराष्ट्र के संत कवियों में चोखा मेला चम्भार (चमार), गोरा कुम्हार, नरहरि सुनार, नामदेव दर्जी तथा सावन्त माली थे। महाराष्ट्र के संतकवियों की सूची में महिलाएं भी शामिल हैं। उनमे महत्वपूर्ण हैं मुक्ताबाई, सखूबाई, जनाबाई, तथा बहिनाबाई। अन्य धर्मों में भी ऐसा ही है।

उनके संदेशो का बहुत जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। वह व्यापक श्रोताओं तक पहुंचा, विशेपकर ग्रामीण क्षेत्रों तथा गरीब लोगों के बीच, क्योंकि उन्होंने आम जनता के मुहावरे और भाषा अपनायी थी। इसलिए भी कि उन्होंने उनके मन की बात कही थी। संत कवियों ने भक्त और भगवान के बीच के मध्यस्थो को हटा दिया, अनुष्ठानों को आसान बनाया। उन्होंने निर्धनों और दबे-कुचलों को जिन्हे सामाजिक व्यवस्था ने किसी गरिमा से वंचित रखा था, एक नयी गरिमा प्रदान कर उनके मन में आशा जगायी थी।

कबीर (1398-1448) ने एक निरक्षर व्यक्ति के रूप में लिखा :

मसि कागद छूयो नहीं
कलम गही नहिं हाथ।
चारिउ जुग को महातम
कबिरा मुखहि जनाई बात।।

वह समकालीन सामाजिक व्यवस्था के अंतर्विरोधों तथा जकड़न से हैरान थे :

साधो, मैं देखूं या जग बौराना
सांच कहूं तो मारन धावैं
झूठे जग पतियाना।

लेकिन वह जो कुछ देखते उसका सच-सच बयान करते रहे। उन्होंने संदेह करना और प्रश्न करना जारी रखा। उन्होंने ब्राह्मणों से कहा, 'पंडित, तुम यह गलत समझते हो' उन्होंने भिक्षु को फटकारा 'अपना मन भटकने से रोको', और काजी से पूछा ' तुमसे चाकू लटकाने को किसने कहा ?'...जब वह एक घर से

दूसरे घर सिरों को काटता जा रहा था। अपने अनगढ़ तरीके से उन्होंने बेरहमी से पूछा :

पंडित, देखहु मनमंह जानी
कहु धौं छूति कहां ते उपजी
तबहिं छूति तुम मानी।

अथवा

काजी ते कवन कतेब बखानी।
जौ रे खुदाई तुरुक मोंहि करता
तौ आपहिं कटि किन जाई।।

कबीर ने इस बात पर भी संदेह जताया कि मोटे-मोटे ग्रंथ पढ़ लेने से ही कोई ज्ञानी हो जाता है :

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा
पंडित भया न कोय
ढाई आखर प्रेम का
पढ़ै सो पंडित होय।

अनेक संत कवियों के विचार का केंद्रबिंदु आम आदमी था। चोखा मेला ने कहा :

गन्ना टेढ़ा-मेढ़ा है लेकिन उसका रस नहीं।
बाहरी दिखावे पर क्यों जायें ?
धनुष मुड़ा है लेकिन उसका तीर नहीं,
बाहरी दिखावे पर क्यों जायें ?
नदी में घुमाव हैं लेकिन पानी में नहीं,
बाहरी दिखावे पर क्यों जायें ?
चोखा (मेला) भद्दा और अनगढ़ हो सकता है
लेकिन उसकी भक्ति नहीं,
बाहरी दिखावे पर क्यों जायें ?

अथवा बासव की बात सुनें :

जड़ पेड़ का मुख है,
जड़ को सींचो
और देखो
वह चोटी पर हरा-भरा हो जाता है।

ईश्वर का मुख
चलते-फिरते मनुष्य हैं,
उनको भोजन कराओ
ईश्वर तुम्हें सब कुछ देगा।
अगर यह जानते हुए भी कि
वे ईश्वर ही हैं
और तुम उनसे मनुष्यों जैसा बर्ताव करते हो
तो तुम नर्क में जाओगे।

इनमें से कुछ संत कवियों के इर्द-गिर्द पंथ और संप्रदाय बन गये। रैदास ने उत्तरी भारत के चमारों की जीवनशैली और उनके सोचने के तरीके को प्रभावित किया। कबीरपंथी संप्रदाय कुछ हिस्सों में अब भी शक्तिशाली है। बासव जिन्हें सम्मानपूर्वक बासवन्ना अथवा बासवेश्वर कहा जाता है, वीरशैववाद के प्रवर्तक थे। कुछ लोग उन्हें भारत का मार्टिन लूथर कहते हैं। कुछ अन्य लोग कहते हैं कि जहां तक जाति और निरर्थक कर्मकांडवाद के उन्मूलन का संबंध हैं उन्होंने बुद्ध के अधूरे छूटे काम को आगे बढ़ाया था। ये संत कवि अपने उद्देश्य की पूर्ति में संभवतः पूरी तरह सफल नहीं हुए, फिर भी उन्होंने अन्यायपूर्ण समाज व्यवस्था में गहरी चोटें कीं, और इसके शिकार लोगों में आशा को जीवित रखा।

इस संदर्भ में कुछ समाजसुधारकों का काम भी ध्यान दिये जाने योग्य है। प्रारंभ में, अध्याय दो में असमिया समाज के रूपांतरण में श्री शंकरदेव की भूमिका की चर्चा की गयी है। यहां हम तीन और सुधारकों का उल्लेख करेंगे—ज्योतिबा फुले (1827-1870), नारायण गुरु (1856-1928), और दयानंद सरस्वती (1824-1883)। फुले और उनके सत्यशोधक समाज ने महाराष्ट्र में परिवर्तन के जबर्दस्त आवेग उत्पन्न किये। वे समतावाद तथा न्याय के सिद्धांतों पर आधारित मानवतावाद के पक्षधर थे और सामाजिक रूप से वंचितों, जिनमें महिलाएं शामिल हैं, के प्रति उनका विशेष सरोकार था। नारायण गुरु ने केरल के समाज पर बहुत जबर्दस्त प्रभाव डाला। यद्यपि उनके सुधार का तात्कालिक लाभ एझवा समुदाय को मिला। उन्होंने 'एक जाति, एक धर्म' के सिद्धांत का उपदेश दिया। वह अंधविश्वास तथा ऐसे कर्मकांडों के विरुद्ध थे जिनमें पशुबलि दी जाती थी। उन्होंने सत्य, स्वच्छता, न्यायपरायणता तथा एकता पर बल दिया। निरर्थक और हानिकारक रिवाजों को छोड़ देना चाहिए। उन्होंने शिक्षा और उद्योग को प्रोत्साहन दिया तथा अपने अनुयायियों को चेतावनी दी कि वे अन्य धर्मों की निंदा न करें।

उनकी शिक्षा को सभी पसंद करते थे तथा उन्हें व्यापक स्वीकृति मिली। यद्यपि एक पुनरुत्थानवादी के रूप में दयानंद की आलोचना की गयी है किंतु वह मानवतावाद को सामाजिक पुनर्रचना का आधार बनाना चाहते थे। वह छुआछूत की प्रथा के साथ ही दूषित जाति व्यवस्था के भी विरुद्ध थे। वह सामाजिक भेदभाव की शिकार स्त्रियो की स्वतंत्रता के पक्षधर थे। उनके जीवनीकार ताराचंद ने कहा है, 'मानव के लिए उनके पास एक संदेश था—मानव को अधिक प्रसन्न, श्रेष्ठतर तथा अधिक उदात्त बनाने का संदेश।'

भारत में अनेक संत, स्वामी और गुरु हुए हैं। उनमें से कुछ एकदम कपटी थे जिन्हें संपत्ति और ऐंद्रिक सुखो की तलाश थी। कुछ हानिरहित सनकी थे लेकिन श्री शंकरदेव, ज्योतिबा फुले, नारायण गुरु तथा दयानंद जैसे कुछ उद्धारक भी थे। यदि वे न होते तो हिंदू समाज खंड-खंड हो गया होता। वे अत्यंत आवश्यक सामाजिक परिवर्तन के मुख्य प्रणेता भी थे।

आधुनिक भारतीय पुनर्जागरण से जुड़े परवर्ती समाजसुधारकों का सरोकार धर्म सिद्धांतों के कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों से था। लेकिन उन्होंने मुख्य सामाजिक सरोकारों मे भी गहरी रुचि प्रदर्शित की। बाल विवाह, स्त्री (विशेषकर विधवा) के प्रति दुर्व्यवहार, सती, और अस्पृश्यता प्रथा के अमानवीय पक्षों ने उनमें क्रोध जगाया। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज और आर्यसमाज—सभी इन सरोकारों में सहभागी थे। कट्टरपंथ की उनके साथ कुछ असहमतियां थीं। बौद्धिक स्तर पर सुधारकों के विचारों को स्वीकृति मिली किंतु जमीनी स्तर पर जनता को उन जटिल कर्मकाडों से मुक्ति नहीं मिल पायी जिनमें हिंदू धर्म जकड़ा हुआ था।

आनुष्ठानिक तथा सामाजिक सोपानबद्धता में ऊर्ध्वमुखी गतिशीलता को लक्षित एक और प्रवृत्ति संस्कृतीकरण कहलायी। 1920 तथा 1950 के दशक के बीच अनेक जातियों ने अपने लिए एक सम्माननीय वंशावली पाने के साथ-साथ यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार पाने का प्रयास किया। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने साधुओं तथा शास्त्रों में पारंगत अन्य लोगों का समर्थन तलाशा। कुछ लाभ के बदले इन महानुभावों ने पूरे समूह को किसी श्रद्धास्पद ऋषि का वंशज घोषित कर दिया और कर्मकांडीय पैमाने में बहुत नीचे न होने की स्थिति में उन्हें यज्ञोपवीत पहनने का भी अधिकारी घोपित कर दिया गया। यह प्रक्रिया अब धीमी पड़ गयी है। किंतु अब भी ऐसे समारोहों के समाचार सुनायी या दिखायी पड़ जाते हैं जिनमें किसी जाति के उच्चीकरण की बात होती है। इस बात के साक्ष्य नहीं हैं कि इस तरह की कार्रवाई से किसी जाति की कर्मकांडीय प्रस्थिति

वस्तुतः उन्नत हुई। कुछ नये जातिनाम अवश्य स्वीकार किये गये जैसे लोहारों के लिए विश्वकर्मा, नाइयों के लिए श्रीवास, दर्जियों के लिए नामदेव, तथा सफाईकर्मियों के लिए बाल्मीकि। लेकिन जरूरी नहीं है कि नये नामों से उनकी सामाजिक प्रस्थिति में कोई बदलाव आया हो। संस्कृतीकरण में निम्न जातियों द्वारा उच्च जातियों के प्रतिमानों तथा व्यवहार मानकों से होड़ शामिल है। सांस्कृतिक आदर्श मूलतः ब्राह्मणवादी आदर्श था। ब्राह्मणों को अन्य जातियों के लिए आदर्श समूह माना जाता था। लेकिन ऐसा हमेशा नहीं होता था। वस्तुतः अनेक संदर्भ आदर्श उपलब्ध थे और कोई जाति उनमें से अधिकतर से या सबसे कुछ तत्व चुन सकती थी। क्षत्रिय, रेड्डी, मराठा अथवा नायर आदर्श भी उतने ही सम्माननीय तथा संभवतः अधिक व्यावहारिक थे। इस तरह की नकल से भी कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आया। इस संदर्भ में मध्यप्रदेश में छत्तीसगढ़ के सतनामियों के उदाहरण विचारणीय है। उनमें से अधिकतर चमार जाति से लिये गये थे। गुरु घासीदास के प्रभाव मे उन्होंने एक 'शुद्ध' सात्विक जीवनशैली अपनायी। वे यज्ञोपवीत पहनने लगे, मांस (यहां तक कि मास से किसी तरह का सादृश्य रखने वाली सब्जियां भी जैसे बैंगन, गाजर, तथा टमाटर) खाना तथा शराब पीना छोड़ दिया। इस सबके बावजूद उन्हें उच्च जातीय प्रस्थिति नही मिली और वे अनुसूचित जाति बने रहे। उनकी जीवनशैली में कुछ परिवर्तन आया जैसे उन्होंने कुछ ऐसे अंधविश्वास तथा आचार-व्यवहार त्याग दिये जिन्हें व्यापक समुदाय सामान्यतः पसंद नहीं करता था। इस प्रकार के विशेष समुदायों तक सीमित कई अन्य आंदोलन हुए हैं जिनके परिणामस्वरूप समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

ये आंदोलन अंशतः असहमति, अंशतः विरोध और अंशतः सुधार के रहे है। यद्यपि उनके समग्र प्रभाव का आकलन कर पाना कठिन है तथापि यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि ये आंदोलन सामाजिक व्यवस्था की कुछ कठोरताओं को शिथिल करने में सहायक हुए। इन आंदोलनों के माध्यम से समाज में परिवर्तन की जरूरत को स्वर मिला। इसी तरह के आंदोलन ईसाइयों और मुसलमानों में भी हुए।

अर्थव्यवस्था

स्वतंत्रता पाने तक भारत में परंपरागत एक बड़ा कृषि तथा कुटीर उद्योग क्षेत्र था यद्यपि ये दोनों क्षेत्र मुरझाये हुए थे। आधुनिक औद्योगिक क्षेत्र छोटा और अपेक्षतया महत्वहीन था। देश के कृषि क्षेत्र अपनी मुख्य फसलों द्वारा पहचाने

जाते थे। अधिकतर क्षेत्रों में वर्ष में केवल एक फसल होती थी। दो फसलें लेने वाले क्षेत्र कम थे। कुछ कृषक स्वामी थे, अनेक असामी खेतिहर थे तथा ज्यादातर खेतिहर मजदूर के विस्तृत समूह में आते थे। अंतिम श्रेणी वस्तुतः कृषिदास की स्थिति में थी क्योंकि उनके ऊपर द्विस्तरीय अथवा त्रिस्तरीय सामंती अभिजात वर्ग मौजूद था। असामी कुछ बेहतर स्थिति में थे किंतु वे भी अपने अधिकार छिन जाने की आशंका से लगातार ग्रस्त रहते थे। दोनों को गांव के जमींदारों अथवा स्थानीय जमींदारों को अनेक अवैतनिक सेवाएं प्रदान करनी पड़ती थीं। चुने हुए व्यक्तियों को नाममात्र के भुगतान पर गांव और सरकार के काम करने पड़ते थे। गांव के जमींदार अपनी निर्ममता, कठोरता तथा हिंसक तरीकों के लिए कुख्यात थे और सरकारी अधिकारियों के साथ अपने संपर्को के कारण वे ज्यादतियां और उत्पीड़न करने के बावजूद बचे रहते थे। जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है, गांव की अर्थव्यवस्था अंशतः जजमानी व्यवस्था के आधार पर चलती थी। 15 अगस्त 1947 के बाद राष्ट्रीय कार्यसूची में भूमि सुधारों को उच्च प्राथमिकता प्रदान की गयी। जमींदारियां खत्म कर दी गयीं। भूमि अधिकार संबंधी सुधारों ने काश्तकारों को भूस्वामी बना दिया। भूमि हदबंदी कानून भी लागू हुए। लेकिन इन अधिनियमों में बचाव के अनेक रास्ते छूटे थे और परंपरागत रूप से ताकत जिनके हाथ में थी वे इतने साधनसंपन्न थे कि उन्होंने सुधारों के प्रभाव को क्षीण कर दिया।

ग्राम अभिजन ने स्थानीय, क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय राजनीति में भी सक्रिय भूमिका ग्रहण कर अपनी शक्ति और बढ़ा ली। भूमि हदबंदी कानूनों के लागू होने के बाद भी भूमि का वास्तविक हस्तांतरण तुलनात्मक दृष्टि से नगण्य रहा। भूमिहीन तथा सीमांत किसानों के लिए कोई आशा शेष न थी। विनोबा भावे के आदर्शवादी तथा सदाशयतापूर्ण भूदान और ग्रामदान के प्रयोग कल्पनालोक के स्वप्न सिद्ध हुए। भूमिहीनों को या तो जमीन मिली ही नहीं या फिर उन्हें ऊसर और बंजर भूमि दी गयी जिसे अपने सीमित संसाधनों से वे सुधार नहीं सकते थे। इस प्रकार, उन्हें बंधुआ मजदूरों अथवा प्रवासी मजदूरों की कोटि में शामिल होना और पराधीन असुरक्षा का जीवन जीने पर मजबूर होना पड़ा। राष्ट्रीय विस्तार सेवा, और सामुदायिक विकास कार्यक्रम–तथा बाद में पैकेज कार्यक्रम जिसने हरित क्रांति को जन्म दिया–के व्यापक निवेशों से भी गरीबों से अधिक अमीरों को लाभ हुआ। राष्ट्रीय स्तर पर गरीबों विशेषकर दलितों पर होने वाले अत्याचारों में संभवतः कमी आई किंतु देश के कई भागों में उनकी यंत्रणाओं की रोंगटे खड़े कर देने वाली कहानियां आज भी पढ़ने को मिलती हैं। कृषि क्षेत्र में प्रभुता तथा अधीनता

के संबंध अब भी कायम हैं। शक्तिशाली किसान आंदोलन तथा स्वैच्छिक कार्य समूहों के प्रयासों के परिणामस्वरूप ऐसे संघर्ष हो रहे हैं जिससे आशा है कि स्थिति सुधर सकेगी।

कृषि को गांव के कारीगरों तथा शिल्पकारों से समर्थन मिलता था। किंतु कुटीर उद्योगों की यही एकमात्र विशेषता नहीं थी। इसके कुछ उत्पाद अपनी कलात्मक उत्कृष्टता के लिए जाने जाते थे तथा शहरी व समृद्ध यहां तक कि विदेशों के लोग भी उन्हें पाने को व्यग्र रहते थे।

ब्रिटिश शासन काल में इनकी सामान्यतः अवनति हुई। ऐसा मानने के कारण हैं कि इनमें से कुछ को नष्ट करने का सायास प्रयास किया गया। परंपरागत भारतीय कपड़ा इसका उदाहरण है। बढ़ते हुए उद्योगीकरण के कारण उसे पुनरुज्जीवित करने का काम आसान नहीं रहा है। सरकारी अभिकरणों द्वारा संवर्धन किये जाने के कारण हस्तशिल्पों तथा हथकरघा उद्योग को कुछ प्रोत्साहन मिला है तथा नये जातीय (एथनिक) प्रेम के कारण परंपरागत कलाकृतियां फैशनेबल बैठकों में पहुंच गयी हैं। 1980 के दशक में विदेशों में हुए अनेक भारत उत्सवों ने, भारतीय कलाओं और शिल्पों के लिए अस्थायी रूप से ही सही, एक अंतरराष्ट्रीय बाजार का निर्माण किया है। किंतु फैशन की प्रकृति चंचल होती है और यह उछाल अल्पजीवी हो सकती है। जो नहीं बदला है वह है कृषि तथा परंपरागत शिल्पों के बीच का संबंध। कुछ परंपरागत कलाएं अपनी गुणवत्ता के कारण बची रहेंगी। किंतु इनके कलाकारो के लिए अपना अस्तित्व बनाये रखना लगातार अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है। इसके अतिरिक्त पर्यटन व्यापार की बढ़ती मांगों के कारण उनमें नये-नये प्रयोग हो रहे हैं जिनसे पारंपरिक शैलियों की प्रामाणिकता का क्षरण हो रहा है और उनका रूप विकृत हो रहा है।

एक समय भारत विश्व की नौंवी अथवा दसवीं सबसे बड़ी औद्योगिक ताकत होने का दावा करता था। अब उसके इस दावे पर प्रश्नचिह्न लगे हैं। किंतु भारत ने अपने उद्योगीकरण में निरपवाद रूप से प्रभावशाली प्रगति दर्ज की है। इस उपलब्धि का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा पिछले कुछ दशकों में प्राप्त हुआ है। किंतु जब हम देश के क्षेत्र तथा जनसंख्या पर विचार करते हैं, इस उपलब्धि की चमक-दमक कुछ फीकी पड़ जाती है। उद्योग देश के कुछ चुने हुए हिस्सों में केंद्रित हैं। उन्हें इधर-उधर वितरित करने का प्रयास किया गया है। परिणामस्वरूप मध्यप्रदेश तथा उड़ीसा जैसे पिछड़े राज्य भी अब इस बात का दम भर सकते हैं कि उनके यहां भी कुछ बड़े उद्योग हैं लेकिन उनका वितरण अब भी विषम है तथा

क्षेत्रीय असंतुलन आज भी कायम हैं। इनसे तनाव उत्पन्न होते हैं। बड़े औद्योगिक केंद्रों में मजदूरों के संघ हैं और वे समुचित वेतन तथा अनुकूल कार्यदशाएं हासिल कर सके हैं। उत्पादकता के स्तर पर अब भी कुछ गंभीर समस्याएं खड़ी हैं। अन्य समस्याएं भी हैं जैसे मलिन बस्तियों (झुग्गी-झोपड़ी, झोपड़पट्टी) में अस्वास्थ्यकर जीवनदशाएं, मदिरापन, बीमारी, तथा वेश्यावृत्ति। कुछ मजदूरबहुल क्षेत्रों में माफिया और उनके आकाओं का प्रभुत्व है जिनकी लूट-खसोट और हमलों पर कानून लागू करने वाली एजेंसियां भी नियंत्रण नहीं कर पातीं। खोजी पत्रकारों ने बार-बार इस आशय के समाचार दिये हैं कि इन बड़े 'दादा' लोगों की 'दादागीरी' अपने बाहुबल तथा दृश्य अथवा अदृश्य राजनीतिक उच्च संपर्को के कारण ही चलती है। यह भी बताया गया है कि सरकारी अधिकारियों के साथ उनके घनिष्ठ संपर्क होते है और गरीब के शोषण में प्रायः इन दोनों का गठजोड़ होता है। उन्हें एक नया सम्मान तब मिल जाता है जब राजनीतिक दल राज्य विधानसभाओं अथवा राष्ट्रीय संसद का चुनाव लड़ने के लिए उन्हें टिकट देने की पेशकश करते हैं।

भारतीय समाज पर समकालीन चर्चा में 'गरीबी की रेखा' का उल्लेख काफी होता है। इस रेखा के नीचे रहने वालों की संख्या कम करने के प्रयासों के बावजूद यह कमोबेश स्थिर रहती है। इसकी जिम्मेदारी मुख्यतः दो कारकों पर डाली जा सकती है : पहला, अर्थव्यवस्था की संवृद्धि के मुकाबले आबादी अधिक तेज दर से बढ़ रही है, और दूसरा, अधिकतर विकास कार्यक्रम धनी और प्रभावशाली लोगों के पक्ष में है। समय के साथ घिस-पिट गये इस मुहावरे—'धनी और धनी तथा गरीब और गरीब हो रहे हैं'—में काफी सच्चाई है। भारत की आबादी के लगभग आधे हिस्से को निर्धनता की संस्कृति सहनी ही पड़ेगी। इससे देश में सामाजिक परिवर्तन की रफ्तार धीमी होती है तथा यह तनावो व संघर्षो को जन्म देती है।

राज्य व्यवस्था

भारत गर्वपूर्वक स्वयं को 'विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र' कहता है। स्वतंत्रता की पूर्वसंध्या पर विदेश के कई प्रेक्षकों को, जिनमे भारत के कुछ मित्र भी शामिल थे, इस लोकतांत्रिक प्रयोग की सफलता के बारे में गंभीर शंकाएं थीं। उनका तर्क था कि भारत सत्तावादी पितृवादी शासन का आदी है तथा यहां लोकतत्र की कोई परंपरा नहीं रही है; इसके नेताओ को राज्य के जटिल तंत्र को चलाने का कोई अनुभव नहीं है; धार्मिक और जातिगत भिन्नताओं के कारण इसका राष्ट्रीय

जुड़ाव कमजोर है; तथा इसके मतदाता अज्ञान और अंधविश्वास में डूबे हैं। यह एक बड़ी उपलब्धि है कि भारत में लोकतांत्रिक प्रयोग जीवित रहा है यद्यपि उसे आंतरिक और बाह्य दोनों तरह के अनेक संकटों का सामना करना पड़ा है।

भारत में लोकतंत्र को अपनी शुरुआती दिक्कतें तो हुई लेकिन उसका कुल लेखा-जोखा अच्छा रहा है और उसने अपनी जीवनक्षमता प्रदर्शित की है। वास्तव में, यह एक ऐसे शासन को उखाड़ फेंक सका जिसने राष्ट्रीय आपातकाल की संक्षिप्त अवधि में अधिनायकवादी तौर तरीके अपनाये थे। यह सच है कि पदभार ग्रहण करते समय इसके नेताओं को सरकार चलाने का अनुभव नहीं था, लेकिन राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय दोनों क्षेत्रों में नेहरू एक कद्दावर नेता के रूप में उभरे थे और यह सरदार पटेल का राजनेतृत्व था जिसने रियासतों का भारतीय संघ में विलयन संभव बनाया। निरक्षर मतदाता और अनुभवहीन नेतृत्व के खाते में अनेक सकारात्मक बिंदु थे।

स्वतंत्रता आंदोलन ने काफी हद तक राष्ट्रीय चेतना जगायी और आजादी ने भारतीय जनता की आशाएं बढ़ा दी थीं। इन दो कारक ने कुछ समय के लिए ही सही, लघु और उपराष्ट्रवाद पर नियंत्रण रखा था। पहले दो उप-चुनाव अनुमोदन की कार्रवाई—महात्मा गांधी और उनके राजनीतिक उत्तराधिकारियों को श्रद्धांजलि— थे। किंतु छिपा हुआ असंतोष धीरे-धीरे मुखरित होने लगा। भारत के विभाजन से सांप्रदायिक समस्या हल नहीं हुई थी और दो प्रमुख संप्रदायों के बीच अविश्वास की विरासत अल्प संसाधनों के लिए प्रतिस्पर्धा के कारण अधिक प्रबल हो गयी थी। आजादी की लड़ाई के दौरान प्रमुख राजनीतिक दल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भाषाई राज्यों के विचार का समर्थन किया था। भाषाई राज्यों के गठन में देरी होने से अनेक क्षेत्रों में आंदोलन तेज हुए। एक तेलुगु राज्य—आंध्रप्रदेश—का गठन करने के लिए रखे गये उपवास में पोट्टि श्रीरामुलु की मृत्यु से इस मांग ने और जोर पकड़ा। इस राज्य के लिए उठाई जा रही मांग मान ली गयी। अन्य क्षेत्रों से पड़ने वाले दबावों के कारण शेष देश का भाषाई आधार पर पुनर्गठन हुआ। भाषावाद तथा क्षेत्रवाद एक ही सिक्के के दो पहलू थे। राज्यों के भाषावार पुनर्गठन का उद्देश्य क्षेत्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति था। उप-क्षेत्रीयतावाद की समस्या बाद में तब प्रकट हुई जब आंध्रप्रदेश में तेलंगाना, महाराष्ट्र में विदर्भ, बिहार में छोटा नागपुर (झारखंड) आदि की मांग उठ खड़ी हुई। उपक्षेत्रीय महत्वाकांक्षाओं को भी कम से कम अशंतः पूरा करने के उपाय खोजे गये। पंजाब को तीन विभाजनों के दौर से गुजरना पड़ा। पहले. देश के विभाजन के समय इसका एक

हिस्सा पाकिस्तान को मिल गया। फिर हिमाचल प्रदेश इससे अलग कर दिया गया, और अंततः हरियाणा का अलग राज्य बन जाने के बाद एक छोटा पंजाबीभाषी पंजाब एक भाषाई राज्य के रूप में शेष रहा। उत्तरपूर्व में दूसरी तरह की समस्याएं थीं। जनजातीय जातीयताएं विद्रोह और अलग होने की मांगों के रूप में अभिव्यक्त हो रही थीं। नागा और मिजोरम अलगाववादी आंदोलन हिंसक थे तथा ये लंबे समय तक खिंचे। भारतीय राज्य व्यवस्था में इतना लचीलापन तथा संवेदनशीलता थी कि वह देश की अखंडता की रक्षा के लिए अधिकतर मांगों को कम से कम आधी-अधूरी तो मान ले।

लेकिन भारत की राज्यव्यवस्था समस्यारहित नहीं है। वास्तव में, यह पर्याप्त दबाव में है। सांप्रदायिक समस्याएं पेचीदा तथा असाध्य प्रतीत होती हैं। हिंदू श्रेष्ठतावाद, जिसका उदय अंशतः इस्लामी कट्टरवाद की प्रतिक्रिया में हुआ है, इन मुद्दों को और जटिल बना रहा है। हिंदू-मुस्लिम दंगों के अतिरिक्त कुछ हिंदू-ईसाई तथा कुछ हिंदू-जैन दंगे भी हुए हैं। सिख अलगाववाद के परिणामस्वरूप होने वाली उथल-पुथल के कारण बहुत रक्तपात हुआ। पश्चिम बंगाल का गोरखा भाग (दार्जलिंग तथा उसके आसपास का क्षेत्र) हालांकि एक बार फिर शांतिपूर्ण है लेकिन असम में बोडोलैंड की उग्र मांग उठायी गयी है और कश्मीर खौल रहा है। झारखंड की मांग अब ज्यादा और नयी शक्ति के साथ फिर से उठी है। जातिगत तनाव बढ़ रहे हैं। पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण के समर्थक तथा विरोधी उग्र तेवर के साथ एक दूसरे के विरुद्ध डटे हैं। इन समस्याओं ने भारत की राज्य व्यवस्था के समक्ष एक प्रमुख चुनौती खड़ी की है तथा ये संघर्ष का समाधान करने और समस्याएं हल करने में उसकी क्षमता की परीक्षा करेंगी।

राजनीतिक प्रणाली की असामान्यताएं भी विचारणीय हैं। संस्थाओं के क्षरण से वैधानिकता का संकट पैदा हो गया है। शासकों की नैतिक सत्ता पर समय- समय पर सवाल खड़े किये गये हैं। मतदाताओं को सामूहिक रूप से धमकाना तथा मतदान केंद्रों पर कब्जा किये जाने से विश्वास का संकट उत्पन्न हुआ है। समय-समय पर राज्यव्यवस्था घोटालों और भ्रष्टाचार से हिल गयी है। इन सबसे साख का संकट सामने आया है। अपराधियों, नौकरशाहों और राजनीतिज्ञों का गठजोड पिछले दो दशकों में खुले तौर पर ताकतवर हुआ है। यह गठजोड़ राज्य व्यवस्था को अव्यवस्था की ओर धकेल रहा है। भारतीय समाज और संस्कृति के लिए इन राजनीतिक विरूपताओं के निहितार्थ वस्तुतः गंभीर हैं और समाज तथा संस्कृति से सरोकार रखने वाले हर नागरिक से गंभीर आत्मनिरीक्षण की मांग करते हैं।

संस्कृति

भारत में सांस्कृतिक अस्मिताओं का निर्माण धर्म, क्षेत्र और जातीयता के आधार पर हुआ है। इनमें से धर्म एक मिथ्या संकेत है। एक विशेष धर्म के अनुयायियों में विश्वास, उपासना पद्धतियों तथा कर्मकांडों के अतिरिक्त और कोई विशेष समानता दिखायी नहीं देती। उपासना के रूपों और कर्मकांडों में भी संप्रदायगत और क्षेत्रीय भिन्नताएं होती हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से हिंदू समरूप नहीं हैं, न मुस्लिम ही समरूप हैं। तमिलनाडु के ब्राह्मण कश्मीर के ब्राह्मणों से बहुत भिन्न हैं। इसी तरह केरल और उत्तरप्रदेश के मुसलमानों की संस्कृति के अनेक पक्षों में भिन्नता है। क्षेत्रीय पहचान अधिक वास्तविक है। विभिन्न धर्मो और जातियों के लोगों की अनेक क्षेत्रीय सांस्कृतिक विशेषताएं समान होती हैं जैसे भाषा, भोजन, वेशभूषा। उनके सांस्कृतिक मूल्य तथा विश्वदृष्टि भी समान होती है। बंगाल में हिदू और मुसलमान दोनों अपने बंगाली होने पर गर्व करते हैं। इसी तरह, अन्यत्र हिंदुओं, ईसाइयों, और मुसलमानों को क्षेत्रीय संस्कृति के अनेक तत्वों मे साझीदार देखा जा सकता है। मुसलमान और हिंदू दोनों कट्टरपंथियों द्वारा इन क्षेत्रीय सांस्कृतिक भिन्नताओं को नष्ट किये जाने की संभावना नहीं है। जनजातीय समूहो में जातीय संस्कृतियां प्रबल होती हैं। उदाहरण के लिए छोटे से राज्य नागालैड में नागाओं के एक दर्जन से ज्यादा भेद हैं और वे सब पहनावे, भाषा, और विश्वास की दृष्टि से एक दूसरे से अलग हैं। मध्यप्रदेश के जनजातिबहुल जिले बस्तर में ऐसे अनेक समूह हैं जो अपने भिन्न जातीय मूलों का दावा करते हैं। किसी जनजाति का वंशनाम भ्रामक हो सकता है। बस्तर के अबुझमारिया, छत्तीसगढ़ के अमाट और धूर गोंड (तीनों मध्यप्रदेश में हैं) तथा आंध्रप्रदेश के कोया और राज गोंड एक ही कोइटूर मूल की शाखाएं हो सकते हैं, किंतु अब उनमें महत्वपूर्ण सांस्कृतिक भिन्नताएं हैं। इस प्रकार भारत के वैविध्यपूर्ण सांस्कृतिक परिदृश्य में नियमित तथा अपरिवर्तनशील संरूपों को पहचानना और उनका विवरण दे पाना कठिन है।

देश के सांस्कृतिक परिदृश्य में अपने स्थानीय वैविध्य के साथ क्षेत्रीय संस्कृतियां अपने वैशिष्ट्य के कारण अलग दिखायी पड़ती हैं। लेकिन ये संस्कृतियां लगातार अपनी-अपनी शास्त्रीय परंपराओं का हवाला देती रहती हैं—हिंदू वेदों और शास्त्रों, मुसलमान कुरान तथा हदीस और ईसाई ओल्ड एवं न्यू टेस्टामेंट का। यह नमूना अपने आपमें एक सामाजिक संरचना है। इसकी व्याख्या जीवन के बदलते

संदर्भो के साथ बदलती रहती है और समय-समय पर यह अनेक प्रकार के सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक आंदोलनों को प्रेरणा देती है। निश्चय ही, कुछ समूहों—जैसे जनजातियों—की केवल स्थानीय अथवा क्षेत्रीय संस्कृतियां होती हैं। उनके पास निज के शास्त्रीय संदर्भ मॉडल नही हैं।

क्षेत्रीय संस्कृतियों पर कम से कम तीन महत्वपूर्ण प्रभाव और हैं। ये हैं पश्चिमीकरण, उदीयमान राष्ट्रीय सांस्कृतिक शैलियां तथा जन संस्कृति। स्वतंत्रता से पहले उच्चवर्ग तथा उच्च प्रशासनिक सेवा वर्ग ने कुछ पश्चिमी तौर-तरीके अपनाये थे। इस प्रभाव का विस्तार अब उच्च मध्यवर्ग तक तथा एक सीमित हद तक गांवों में भी हो गया है। आजादी की लड़ाई के दौरान एक नयी राष्ट्रीय शैली का उदय हुआ जिसके कुछ पक्ष अब भी कायम हैं। गांधी टोपी तथा खादी अब भले ही खास अवसरों पर पहनी जाने वाली तथा प्रतीकात्मक वेशभूषा हो किंतु उस समय जो तत्व विकसित हुए उनका देश की एकता में पर्याप्त योगदान था, और उन्होंने इसकी संस्कृति को एक समानता प्रदान की। लोकप्रिय संस्कृति व्यापक रूप से जनसंचार का उत्पाद है। लोकप्रिय संस्कृति भी एक एकता प्रदान करने वाली कारक है। फिल्मों का प्रभाव जबर्दस्त रहा है। छवियों और रुझानों को नया स्वरूप देने में रेडियो और अब टी वी का भी हाथ रहा है। उनका सौंदर्य-शास्त्रीय गुण भले ही स्तरीय न हो लेकिन जनता पर उनकी पकड़ को नकारा नहीं जा सकता। यह स्मरणीय है कि आधुनिक मीडिया ने परंपरा तथा जनरुचि के मुद्दों, दोनों का संवर्धन किया है। उनके द्वारा संप्रेषित कुछ शैलियों का देश के विभिन्न भागों में जनता के भिन्न-भिन्न वर्ग अनुकरण करते हैं।

भारत एक सांस्कृतिक चेतनासंपन्न देश है। आजादी पाने के पहले ही देश की सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण के कुछ प्रयास किये गये थे। राष्ट्रीय एवं राज्य संग्रहालयों में बहुमूल्य संकलन हैं। अंग्रेजों द्वारा स्थापित भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण (आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया) ने न केवल बहुमूल्य स्मारकों को सुरक्षित रखा बल्कि वह उत्खननों द्वारा देश की सांस्कृतिक विरासत के अनेक अज्ञात पहलुओं को भी प्रकाश में लाया है। अंग्रेजों की ही पहल पर स्थापित ऐंथ्रोपोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया (भारतीय मानवविज्ञानी सर्वेक्षण) ने मानवजाति विवरणों के अनेक अंतरालों को भरा तथा भारत के लोगों और संस्कृतियों के विषय में बहुमूल्य जानकारी प्रदान की। पारंपरिक रूपों के प्रस्तुतीकरण तथा उनकी सीमाओं के विस्तार में कला तथा संगीत विद्यालयो ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संस्कृति पर विशेष ध्यान दिया गया। राष्ट्रीय स्तर

पर साहित्य, ग्राफिक तथा प्लास्टिक कलाओं तथा निष्पादन कलाओं, सगीत तथा रंगकर्म के क्षेत्रों के लिए तीन अकादमियों की स्थापना की गयी। इन क्षेत्रों में सृजनात्मकता के संवर्धन के लिए उन्होंने अनेक राष्ट्रीय पुरस्कार सृजित किये। उन्होंने प्रकाशनों, प्रदर्शनियों, प्रस्तुतियो और विचार गोष्ठियों के माध्यम से विभिन्न कला रूपों को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया। इसी तरह की संस्थाएं अनेक राज्यों में भी स्थापित की गयीं। 1975 से 1990 तक सांस्कृतिक गतिविधियों में वहुत तेजी रही। विदेशो में—ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, रूस, जापान तथा अन्यत्र—अनेक भारत-उत्सवों का आयोजन हुआ। इन उत्सवों के माध्यम से भारत ने अपनी विरासत की व्यापक छवि उभारी। इनमें से कुछ देशों ने सांस्कृतिक आदान-प्रदान के रूप के भारत में अपने उत्सव आयोजित किये। इन उत्सवों की एक महत्वपूर्ण विशेपता यह थी कि इनमें शास्त्रीय, लोकप्रिय तथा लोकरूपों को प्रतिनिधित्व दिया गया। यह प्रवृत्ति 'अपना उत्सव' श्रृंखला द्वारा जारी रखी गयी थी। देश के विभिन्न भागों में 'अपना उत्सव' आयोजित किया गया तथा अनेक क्षेत्रीय सास्कृतिक केंद्र स्थापित किये गये। लोक कलाकारों तथा दस्तकारों को इतना महत्व पहले कभी नहीं मिला। अब उन्हें एक नया सम्मान मिला था।

अभी इन कार्यक्रमों के मूल्याकन का प्रयास तो जल्दबाजी होगा लेकिन इन कार्यक्रमों ने एक हद तक सांस्कृतिक चेतना का संवर्धन किया, गतिरुद्ध ग्रामीण कलाओं और शिल्प के संरक्षण के लिए एक बड़ा प्रयास शुरू किया, इन कलाओं को तलाशा और उन्हें एक राष्ट्रीय मच प्रदान किया। इस प्रवृत्ति का सामाजिक प्रभाव सामने आने मे एक या दो दशक लगेंगे।

लोकरूप भी व्यापक लोकप्रियता अर्जित कर रहे हैं। यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें सच्ची राष्ट्रीय एकता प्राप्त की गयी है।

इस संवंध में एक बिंदु उल्लेखनीय है। सांस्कृतिक गतिविधि के अनेक पक्षों में भारत का मिलाजुला संश्लिष्ट स्वरूप प्रतिबिंवित होता है। उदाहरण के लिए भारतीय संगीत ने धार्मिक विभेदो को कभी मान्यता नहीं दी। हिंदुस्तानी संगीत के विकास मे हिंदू और मुसलमान दोनों का योगदान समान रूप से महत्वपूर्ण रहा है। महत्वपूर्ण भारतीय चित्रकारों में से अनेक मुसलमान, ईसाई तथा सिख हैं। यह तथ्य फिल्म जगत में भी देखा जा सकता है। कला की सराहना में क्षेत्रीय सीमाएं आड़े नहीं आतीं। उत्तर के कथक; दक्षिण के भरतनाट्यम, कुची पुड़ी तथा कथकली; ओडीसी और छाऊ (उडीसा) तथा पूर्व के मणिपुरी (मणिपुर) नृत्य को राष्ट्रीय स्तर पर प्रशसक दर्शक प्राप्त हैं।

समाज : निरंतरता तथा परिवर्तन

भारत की अर्थव्यवस्था, राजनीति तथा संस्कृति में परिवर्तनों की इस पृष्ठभूमि में अव हम देश के सामाजिक परिवर्तन की प्रमुख प्रवृत्तियों की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकते हैं।

अध्याय दो में हिंदू समाज की सात प्रमुख विशेषताएं गिनायी गयी हैं : जन्मना प्राप्त प्रस्थिति, सोपानबद्धता, आनुष्ठानिक शुचिता/अशुचिता संलक्षण, पुरुषार्थ, आश्रम, ऋण तथा कर्म। इनमें से पहली तीन विशेषताएं घनिष्ठ रूप से परस्पर सवद्ध है तथा इनकी एक पहचान योग्य समष्टि (काम्प्लेक्स) है। सामाजिक श्रेणियों की आधारभूत प्रस्थिति जन्म से प्राप्त प्रस्थिति के आधार पर निश्चित की जाती थी। इस वर्गीकरण के आधार पर स्तरीकृत रूप से उनका पदक्रम निर्धारित होता था और अपनी स्थिति बनाये रखने के लिए उन्हें आनुष्ठानिक शुचिता और अशुचिता के जटिल नियमो का पालन करना पड़ता था। पुरुषार्थ जीवन के लक्ष्य परिभाषित करते थे। इन लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयास सभी व्यक्तियों तथा सामाजिक श्रेणियों को करना पड़ता था। आश्रम जीवन के चरणों का प्रतीक है। द्विज वर्णों को क्रमिक रूप से सभी आश्रमों का निर्वाह करना होता था। आश्रम तथा धर्म का वहुत घनिष्ठ संबंध था। प्रत्येक आश्रम के धर्म का अपना एक विशेष रूप था। चार पुरुषार्थों में धर्म सबसे महत्वपूर्ण था।

कर्म का सिद्धांत व्यक्ति के जीवन का रूप निर्धारित करता था लेकिन यह अपने कर्मो द्वारा अतीत की भूलों का प्रायश्चित करने तथा भविष्य की संभावनाओं को बेहतर वनाने की छूट भी देता था। सरसरी तौर पर यह उल्लेख किया जा चुका है कि यद्यपि अन्य धर्मो—ईसाई, इस्लाम तथा सिख—की धार्मिक विचारधारा हिंदू धर्म की इन विशेषताओं में से कुछ को स्वीकार नही करती थीं तथापि इन धर्मो के भारतीय अनुयायियों—कम से उनके वीच जो हिंदू धर्म से इन धर्मो में धर्मांतरित हुए थे—के विश्वासों तथा विश्वदृष्टि में हिंदू धर्म की कुछ विशेषताएं बनी रहीं। वस्तुतः इनमें से कुछ धारणाएं इतनी प्रबल थीं कि उन्हें उन लोगों ने भी अपना लिया जो अपने धर्म भारत लाये थे और यहा उनका उपदेश देते थे।

क्या यह विचारधारात्मक रुझान परिवर्तन के झंझावातों का सामना कर सका है ? क्या यह पश्चिम—उसकी शिक्षा, विज्ञान, प्रौद्योगिकी (तकनीक)—से प्रभावित हुई है ? क्या स्वतंत्रता ने इसमे सामाजिक रूपांतरण के आवेगो को गति दी है ?

जन्मना प्रस्थिति, सोपानवद्धता तथा आनुष्ठानिक शुचिता और अशुचिता की धारणाओं पर समय-समय पर प्रहार होते रहे है। इसके निर्माणकाल में असनातनी चिंतन संप्रदायों ने, बाद में अनेक संत कवियों ने तथा उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में नये ज्ञान तथा विचारधाराओं ने इस पर प्रहार किया। हिंदू विश्वास, संगठन तथा कर्मकांड के इस पक्ष की बाहर वालों ने भी खिल्ली उड़ायी क्योंकि उन्हें यह सब बहुत घिनौना लगता था। लेकिन लगता है कि इस व्यवस्था में जबर्दस्त लचीलापन है। यह कुछ पीछे हटती है किंतु धीरे-धीरे अपनी पूर्वस्थिति में आ जाती है। समकालीन विश्व की समतावादी तथा वैज्ञानिक प्रकृति में सोपानबद्धता तथा आनुष्ठानिक शुचिता की धारणाएं अब भी अपनी कुछ शक्ति कायम रखे हैं। प्रकटतः उनकी आलोचना की जा सकती है किंतु उन्हें गुप्त स्वीकृति प्राप्त है। अस्पृश्यता प्रथा तथा स्त्री-पुरुष भेदभाव के अनेक रूपों को—जिन्हें धारणाओं के इस संकुल में अनुमति प्राप्त है—हिंदू सुधारकों ने अस्वीकार्य माना। विशेषकर महात्मा गांधी ने इनके विरुद्ध व्यापक अभियान छेड़े। स्वतंत्र भारत में अस्पृश्यता उन्मूलन तथा स्त्रियों की स्थिति के उत्थान के लिए कानून बनाये गये किंतु सामाजिक असमानता अब भी इन समूहों है।

पुरुषार्थ आश्रम तथा ऋण की विचारधारा में अंतर्निहित सांगठनिक सिद्धांतों का पालन कितना होता है इसे मापने के कोई वस्तुनिष्ठ संकेतक नहीं है। लक्ष्यों, जीवनचक्र के तार्किक उन्नयन के चरणों, तथा व्यक्ति के सामाजिक तथा कर्मकांडीय दायित्वों के विवरणों के रूप में उनमें कुछ भी आपत्तिजनक नहीं है। वे एक वांछित जीवनशैली की रूपरेखा प्रदान करते हैं किंतु सामाजिक व्यवस्था में इनका पालन सुनिश्चित कराने के लिए कोई तंत्र नहीं हैं। रोचक तथ्य यह है कि उन्हें तथा कर्म सिद्धांत को भी व्यापक सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है। ये धारणाएं इतनी गहरी धंसी हैं कि उनमें किसी तरह का फेरबदल लाने का प्रयास करना निरर्थक हो सकता है। इसके अतिरिक्त उनके सकारात्मक पक्ष भी है।

वर्ण की धारणा व्यापक रूप से वर्गीकरण वाली है। यह सामाजिक संरचना की कार्यात्मक इकाई नहीं थी। जैसा हम पहले देख चुके हैं, प्रत्येक वर्ण कमोवेश समान कर्मकांडीय प्रस्थिति वाली जातियों का समूह था। अब इन तीनों द्विज वर्णो में से प्रत्येक के लिए राजनीतिक तथा सामाजिक मंचों पर अलग-अलग संगठन बनाने की एक नयी प्रवृत्ति दिखायी पड़ रही है। इस प्रकार एक अखिल भारतीय ब्राह्मण महासभा, एक अखिल भारतीय कायस्थ महासभा, तथा एक अखिल भारतीय वैश्य महासभा है। वस्तुतः प्रत्येक श्रेणी के लिए अनेक समानांतर संगठन

हैं। समय-समय पर अपने महत्वपूर्ण नेताओं को सुनने तथा विविध विषयों पर प्रस्ताव पारित करने के लिए उनकी बैठके भी होती हैं। इन प्रस्तावो में आंतरिक समाज सुधार तथा राजनीतिक एकता की जरूरत संबंधी प्रस्ताव सम्मिलित रहते हैं। समझा जाता है कि उन्होंने यह निर्णय भी किया है कि बदली हुई परिस्थितियों मे समान वर्ण स्तरों की जातियों में विवाह की अनुमति देना समीचीन होगा। चुनावों में राजनीतिक समर्थन जुटाने के लिए भी वर्ण निष्ठा का आह्वान किया जाता है। ब्रिटिश शासन काल में विभिन्न जातियो के लिए इस तरह के संगठन—अखिल भारतीय तथा क्षेत्रीय—बनाना काफी फैशनेबल हो गया था। वे भी जाति प्रतिमानों के उल्लंघनो पर तथा सामाजिक सुधार की आवश्यकता पर विचार-विमर्श करते थे। जिन विषयों पर उन्होंने प्रस्ताव पारित किये उनमे बाल विवाह पर प्रतिबंध, कर्मकांडों का सरलीकरण, तथा संस्कारों और समारोहों पर धन की बरबादी से बचना आदि सम्मिलित हैं। सामाजिक इतिहास तथा समाजशास्त्र ने इन पर गहन अध्ययन नहीं किया है और इसलिए सबंधित जाति में जीवन के विविध पक्षों पर ऐसे सगठनो तथा उनके प्रस्तावों के प्रभाव का आकलन करना कठिन है। इन संगठनों में प्रयासों के बावजूद दहेज जैसी सामाजिक कुरीतियां पनपती रही हैं। स्वतंत्रता के बाद जाति का धीरे-धीरे राजनीतिकरण हुआ और अब, माना जाता है कि चुनावों में उसकी भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती जायेगी। राष्ट्रवादी यहां तक कि उग्र सुधारवादी राजनीतिक दलों ने भी राजनीतिक लक्ष्यों के लिए जाति का इस्तेमाल किया था। जमीनी स्तर की राजनीति के यथार्थ उन्हें 'जाति समीकरणों' को लगातार ध्यान में रखने पर विवश करते हैं। इस स्थिति का मुकाबला करने के लिए दो युक्तियां अपनायी जा सकती हैं : दो अथवा अधिक प्रतिद्वंद्वी राजनीतिक दल एक ही जाति के प्रत्याशी को मैदान में उतारें, अथवा जातिगत मतों के विभाजन के लिए वे प्रतिद्वंद्वी राजनीतिक दल के प्रत्याशी के विरुद्ध गुप्त रूप से उसी जाति के निर्दलीयों को चुनाव लड़ने के लिए प्रोत्साहित करें। इस प्रवृत्ति से माहौल अशात होता है तथा अंतरजातीय तनाव और संघर्ष उभरते हैं। कुछ क्षेत्रो में समाज के निर्बल और आसानी से हमले का शिकार बनाये जाने लायक वर्गो के शोषण तथा उन्हें आतंकित करने के लिए अंतरजातीय गठबंधन उभरे हैं।

किंतु अंतरजातीय संबंध में आनुष्ठानिक शुचिता तथा अशुचिता का पालन कम कठोरता से किया जाता है। कम से कम सार्वजनिक संस्थानों तथा सार्वजनिक परिवहन, और नगरीय क्षेत्रों में शुचिता-अशुचिता का पालन कठोर नहीं है। ग्रामीण

क्षेत्र में जजमानी संबंधों का कुछ क्षरण हुआ है तथा नगरीय क्षेत्रों में तो अब ये संबंध लगभग गायब ही हो गये हैं। नये रोजगार अवसर मिलने के कारण अब एक परिवार के कम से कम कुछ सदस्यों द्वारा अपना परंपरागत जाति व्यवसाय छोड़ने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। जाति पंचायतों की भी अब अवनति होती प्रतीत होती है। उनकी कुछ भूमिकाएं कानूनी अदालतों तथा ग्रामों के गुटों ने ले ली हैं। फिर भी जाति सामाजिक संरचना की एक सुदृढ़ तथा प्रकार्यात्मक इकाई बनी हुई है।

परिवार कुछ दबावों में रहा है तथा नातेदारी के बंधन अब पहले की तरह मजबूत और जुडाव वाले (कोहेसिव) नहीं रह गये हैं। किंतु जिसे प्राय: 'संयुक्त परिवार' कहा जाता है वह संपूर्ण भारतीय समाज का प्रतिमान कभी नहीं रहा; यह गांवों तथा छोटे कस्बों में कुछ जातियों में सीमित था। इनमें भी संपूर्ण दो या तीन पीढ़ियों तक विस्तारित परिवार दुर्लभ थे। किंतु इन्हीं जातियों में अब मूल परिवार की एक प्रवृत्ति देखने को मिल रही है। परिवार तथा नातेदारी संजालों के क्षरण के लिए अनेक कारक उत्तरदायी है जैसे आधुनिक शिक्षा, नये व्यवसाय, भौगोलिक गतिशीलता, जन संचार माध्यमों का प्रभाव आदि। विवाह मे चयन की बढ़ी हुई स्वतंत्रता के कारण भी बड़ी संयुक्त-गृहस्थियों में रहना अव्यवहार्य हुआ है। लेकिन महत्वपूर्ण कर्मकांडों तथा समारोहों में विस्तारित परिवार तथा नातेदारी समूह अपनी एकता प्रदर्शित करते हैं तथा साथ खड़े होते हैं। आधुनिक व्यवसायों मे कार्यरत शिक्षित महिलाओं को यह सुविधाजनक लगता है कि कोई वयस्क स्त्री संबंधी उनके साथ रहे, घर के काम-काज में हाथ बटाये, विशेषकर छोटे बच्चों की देखभाल करे। औद्योगिक तथा वाणिज्यिक उद्यम भी विस्तारित परिवार तथा निकट और दूर के नातेदारों से वित्तीय सहायता जुटाते हैं।

बदलती हुई प्रवृत्तियां अनेक प्रश्नों को जन्म देती है। युवा पीढ़ी में बुजुर्गों के प्रति सम्मान क्यों खत्म हो रहा है ? स्त्री समानता की बढ़ती मांग का परिवार प्रतिमानों तथा समाज के सांगठनिक ढांचे पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? क्या निम्नतर सामाजिक श्रेणियों द्वारा अधिकारों के लिए जोर पकड़ते दावे समाज का संतुलन भंग कर देंगे ? विभिन्न प्रकार की जातीयताओं तथा कट्टरपंथों के उदय का स्पष्टीकरण क्या है ? इन समस्याओं की विशालता परेशान करने वाली है किंतु ये प्रश्न नये नहीं हैं। इतिहास के विभिन्न मोड़ों पर ये प्रश्न पहले भी उठाये गये है, और समाज ने उनके समाधान खोजने के प्रयास किये है। परिवर्तन के विशाल पैमाने ने परिवर्तन के प्रबंधन को जटिल तथा कठिन बना दिया है। समाज की

समस्या को सुलझाने वाले उपकरण प्रायः अपने अल्पजीवी राजनीतिक लाभों के लिए इन्हें और जटिल तथा कठिन बना देते हैं। जहां सामूहिक विस्मृति की दरकार है वहां दर्द भरी जातीय स्मृतियां फिर से जगाने की प्रवृत्ति है। इस प्रकार एक पहले से ही उलझी स्थिति और उलझ जाती है।

एक प्राचीन समाज को, जिसमें बड़े पैमाने पर परिवर्तन हो रहे हैं, बाधाओं और रुकावटों से मुठभेड करनी ही पड़ती है। भारत जिस उथल-पुथल से इस समय गुजर रहा है उसके कुछ सकारात्मक पक्ष हैं . इसकी जनता परिवर्तन की मांग कर रही है और ऐसे लक्ष्यों की ओर इंगित कर रही है जो समाज को अपने लिए निर्धारित करने चाहिए। खाद्यान्न आत्मनिर्भरता, विज्ञान तथा तकनीकी के क्षेत्र मे देश की उपलब्धियों को आसानी से नकारा नहीं जा सकता। यह अच्छा है कि पर्यावरणीय ह्रास, पारिस्थितिकी नुकसान तथा असंतुलन, ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों की समस्याओं पर देश में अब जिस आवेग के साथ बहस हो रही है वैसा पहले कभी नही हुआ था। यह भविष्य के प्रति एक जीवंत सरोकार प्रदर्शित करता है। सर्वाधिक आशाजनक संकेत यह हैं कि देश के आम नागरिक अब हर बात सिर झुकाकर स्वीकार करने को राजी नही हैं। यह देश को एक ऐसा रूप देता है जिसमें रहना तथा समाज के नये सरोकारों का साझीदार बनना रोचक उत्तेजना से भरा है।

समकालीन भारतीय समाज परिवर्तन के एक संवेगात्मक उद्वेग से गुजर रहा है तथा दुविधाओं और विडंबनाओं की एक शृंखला से मुठभेड़ कर रहा है। ये आहत करते हैं किंतु ये अपरिहार्य हैं। समाज के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने लोगों की सभी श्रेणियों की समस्याओं को समानुभूति के साथ देखे, आर्थिक असमानताओं तथा अन्याय की समस्याओं के समाधान ढूंढ़े, जन चेतना को व्यापक आयाम देने के कार्यक्रम चलाये, मिथक की अधीनता के विरुद्ध इतिहास के सच्चे अर्थ का उन्नयन करे, तथा निर्णय करने में सहभागिता की प्रक्रियाएं प्रारंभ करे। परंपरा के कुछ पक्ष अपनी जीवंतता तथा उपयोगिता के कारण जीवित रहेंगे जबकि अतीत के अनेक पर्तों वाले पूर्वग्रहों को जड से उखाड फेंकना होगा तथा शोषण और आतंक की संरचनाओं को ढहाना होगा। राह लंबी है, प्रक्रिया पीड़ादायक हो सकती है लेकिन हममें से हर एक—भारत के प्रत्येक नागरिक—का भविष्य दांव पर है।

सहायक पुस्तकें

भारत जैसे विशाल देश के ऐतिहासिक क्रमविकास तथा सामाजिक संगठन के सभी पक्षों की चर्चा किसी छोटी पुस्तक में कर पाना संभव नहीं है। कम से कम कुछ पाठक तो भारत की सांस्कृतिक विरासत तथा सामाजिक व्यवस्था के विषय में अधिक जानना ही चाहेंगे। उनके लिए पाठ्य सामग्री की यह छोटी सी सूची दी जा रही है। ये सभी पुस्तकें पढ़ने में सहज-सरल हैं।

'हिस्टरी आफ इडिया—1' लेखिका : रोमिला थापर। यह पुस्तक भारत की सस्कृति और समाज का उत्कृष्ट ऐतिहासिक परिचय है। सर्वप्रथम इस पुस्तक को पेंगुइन ने 1966 मे प्रकाशित किया था। 1982 तक इसके दस पुनर्मुद्रण प्रकाशित हो चुके थे। पेपरबैक के रूप में आसानी से उपलब्ध यह पुस्तक बहुत महंगी भी नहीं है। रोमिला थापर की ही 'द पास्ट ऐंड प्रेजुडिस' (नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, दूसरा पुनर्मुद्रण : 1990) से पूर्वग्रहों और पूर्वाभिवृत्तियों के कुछ मकड़जाल साफ करने में मदद मिलेगी। यह पुस्तक छोटी, सस्ती तथा अत्यंत पठनीय है। 'ए हिस्टरी आफ इंडिया—2' में पर्सीवल स्पियर ने मुगलकाल से आजाद भारत के प्रारंभिक दशकों तक भारतीय समाज के विकास पर चर्चा की है। यह पुस्तक भी पेंगुइन द्वारा प्रकाशित पेपरबैक है। इससे कुछ भारी किंतु अत्यंत पठनीय पुस्तकें भी हैं। ए एल बाशम की 'द वंडर दैट वाज इंडिया' (लंदन, 1954; भारत में भी पुनर्मुद्रित) तथा डी.डी. कोसांबी की 'द कल्चर ऐंड सिविलाइजेशन आफ एंशिएंट इंडिया इन हिस्टारिकल आउटलाइन' (लंदन, 1965; भारतीय संस्करण भी उपलब्ध)। आधुनिक भारत के लिए सुमित सरकार की 'माडर्न इंडिया 1885-1947' उपयोगी है। के एम पणिक्कर की 'ए सर्वे आफ इंडियन हिस्टरी' (मुंबई 1947, अनेक बार पुनर्मुद्रित) हालांकि कुछ पुरानी है फिर भी इसे पढ़ना विचारोत्तेजक है।

भारतीय समाज पर ऐसी छोटी पुस्तकें अधिक नहीं हैं जिन पर निर्भर किया जा सके। हा, जनजातियों और जातियों पर अनेक उत्कृष्ट मोनोग्राम, अलग-अलग

गावों पर किये गये अध्ययन तथा भारतीय सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों पर किये गये सैद्धांतिक अध्ययन अवश्य उपलब्ध हैं। लेकिन ये आम पाठकों के लिए नहीं, विशेषज्ञों के लिए हैं। 'द गजेटियर आफ इडिया : इंडियन यूनियन' का प्रथम खंड 'देश तथा जनता' पर है। प्रकाशन विभाग ने इस खंड से 1969-70 में पांच छोटी और सस्ती पुस्तिकाएं निकाली थीं। इन पुस्तिकाओं में भौतिक भूगोल, जनता, धर्म, भाषाओं तथा सामाजिक संरचना पर चर्चा की गयी हैं। इन सभी को सामान्य जानकारी के लिए पढा जा सकता है। सामाजिक संरचना सबंधी पुस्तिका इस पुस्तक के पाठकों के लिए विशेष रूप से रुचिकर होगी। 'ग्रामीण भारत मे जीवन' विपय पर श्यामाचरण दुवे की पुस्तक 'भारतीय ग्राम' (लंदन तथा इथका, 1955; सजिल्द तथा पेपरवैक में इसके कई सस्करण तथा अनुवाद हैं) भी पढ़ी जा सकती है। एम.एन. श्रीनिवास की पुस्तक 'सोशल चेंज इन माडर्न इंडिया (वर्कले तथा लास एंजिलस, 1966; भारत में भी पुनर्मुद्रित) में परिवर्तन के कुछ पक्षों पर सशक्त चर्चा है। डेविड जी. मंडेलबाम की पुस्तक 'सोसायटी इन इंडिया' (दो अध्यायों में वर्कले तथा लास एंजिलस से 1970 में प्रकाशित, भारत मे पुनर्मुद्रित तथा पेपरवैक में उपलब्ध) में निरंतरता तथा परिवर्तन पर पर्याप्त नृशास्त्रीय विस्तार के साथ चर्चा की गयी है। यह अधिक गंभीर पाठक के लिए भारतीय समाज का अच्छा परिचय देती है।

यहा सुझायी गयी पाठ्य सामग्री में विस्तृत पुस्तक सूचियां तथा सदर्भ भी दिये गये हैं।

शब्दावली

अज्लाफ	: हिंदू धर्म से मुसलमान बने लोग विशेषकर वे जो निम्न जातियों से धर्मांतरित होकर मुसलमान बने।
अशराफ	: वे भारतीय मुसलमान जो अपने विदेशी मूल का दावा करते हैं और इसलिए जिनकी प्रस्थिति उच्चतर है।
अनुलोम विवाह	: निम्नतर जाति की स्त्री के साथ उच्चतर जाति के पुरुष का विवाह।
अहल-उल-किताब	: जिन लोगों के धर्म का आधार उद्घाटित ज्ञान की एक पवित्र पुस्तक हो जैसे मुसलमान, ईसाई तथा यहूदी।
अर्थ	: भौतिक संपदा, कल्याण; चार पुरुषार्थों में से एक।
अर्थशास्त्र	: राजनीतिक अर्थव्यवस्था का सिद्धांत; कौटिल्य के प्रसिद्ध ग्रंथ का नाम।
आजीवक	: बुद्ध के समय का शास्त्रविरुद्ध पथ।
आर्य समाज	: दयानंद सरस्वती द्वारा स्थापित आधुनिक हिंदू पंथ जो मुख्यतः वेदों पर आधारित है तथा मूर्तिपूजा विरोधी है।
आर्यावर्त	: आर्यभूमि; भारत।
आरण्यक	: अरण्य (वन) वासी ऋषियों द्वारा रचे गये वैदिक ग्रंथ।
आश्रम	: हिंदुओं के जीवन की चार अवस्थाएं; ऋषियों का आवास।
इमाम	: मस्जिद में नमाज अदा करवाने वाला प्रमुख व्यक्ति।
कर्म	: कार्य; कर्म के सिद्धांत के अनुसार हिंदू अपने पूर्व जन्मों के कर्म का फल वर्तमान जीवन में भोगते हैं तथा वर्तमान जीवन के कर्मों का फल अगले जन्म में भोगेंगे। कर्म भाग्य के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।
काम	: दैहिक इच्छाएं; पुरुषार्थों में से एक।

खराज : कुछ मुस्लिम शासकों द्वारा भूमि और संपत्ति पर लगाया गया कर, वह रकम जो अधीन राजा बडे राजा को देता है।

गृह्यसूत्र : हिंदुओं के पारिवारिक कर्मकाडों की नियमावली।

गुण : तीन आधारभूत गुण है : सत्व (पवित्रता), रजस (वासना/कामना), तथा तमस (अंधकार)।

चार्वाक : बुद्धकालीन विपथगामी पंथ जो भौतिकवादी दर्शन का अनुयायी था।

जजमानी : अंतरजातीय सहयोग तथा परस्पर निर्भरता का एक संरूप जिसमें दस्तकार, शिल्पी तथा विशिष्ट व्यवसायो वाली जातियां भूस्वामियों को अपनी सेवाएं देती हैं और बदले में उन्हें वस्तु के रूप में तय वार्षिक भुगतान प्राप्त होता है जो प्रायः नयी फसल का कुछ हिस्सा होता है। इन जातियों के बीच परस्पर भी विशिष्ट सेवाओं का आदान-प्रदान होता है।

तारावाड़ : केरल के नायरों का मातृवंशी संयुक्त परिवार।

तांत्रिक : एक धार्मिक पंथ के अनुयायी, प्रायः शाक्त।

दक्षिणापथ : विंध्य के दक्षिण का प्रदेश।

दास : गुलाम, भारत के आर्यपूर्व निवासियों के लिए प्रयुक्त शब्द।

दास्यु : भारत के आर्यपूर्व निवासियों के लिए प्रयुक्त अपमानजनक शब्द।

देश : सीमाक्षेत्र; प्रशासनिक इकाई।

दिग्पाल : सीमाओं के रक्षक देवता। इनकी कुल संख्या आठ है। कुछ देवता जिनकी पहले पूजा होती थी बाद में इस दर्जे पर उतार दिये गये।

द्विज : दो बार जन्मे (पहले भौतिक जन्म और बाद में उपनयन संस्कार द्वारा वर्ण प्रस्थिति में शामिल होना); हिंदू समाज व्यवस्था के तीन ऊपरी वर्ण।

द्विस्थानिक आवास : जहां पति-पत्नी अपनी-अपनी माताओं के परिवार के साथ ही रहते हैं।

धर्मशास्त्र : हिंदुओं की सामाजिक संस्थाओं तथा परस्परक्रिया एवं

व्यवहार व धार्मिक कर्मकांडों से संबंधित कानूनों का विवरण देने वाले ग्रथ।

धिम्मी : उद्घाटित ज्ञान की पवित्र पुस्तक वाले गैर मुसलमान; देखे अहल-उल-किताव।

नवस्थानिक आवास : जहा कोई विवाहित युगल अपने नये घर में रहता है।

पंचम : चार वर्णो से वाहर; अस्पृश्य।

पितवंशी परंपरा : जहां वंशपरंपरा पुरुष से चलती हो। मातृवंशी परंपरा भी देखें।

पितृस्थानिक आवास : जहां पत्नी अपने पति के पिता के घर मे रहती है।

पितृसत्ता : पुरुप वर्चस्व वाली व्यवस्था; वरिष्ठ पुरुषों के हाथ मे सत्ता

पीर : मुसलमान विशेषकर सूफी; विशेषकर शक्तियों से सपन्न माना जाने वाला धार्मिक व्यक्ति; उसके भक्त किसी भी संप्रदाय के हो सकते हैं।

पुरुषार्थ : जीवन के चार लक्ष्य : धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष।

प्रतिलोम विवाह : उच्चतर जाति की स्त्री के साथ निम्नतर जाति के पुरुप का विवाह।

फतवा : इस्लाम धर्मानुयायियों के नाम मुसलमान धर्मप्रमुख द्वारा जारी आदेश।

फर्मान : मुसलमान शासकों द्वारा जारी आदेश : मराठा तथा अन्य हिंदू शासकों ने भी यह प्रथा अपना ली।

वहिर्विवाह : अपने समूह से बाहर विवाह करने की प्रथा।

वहुपतित्व : एक पत्नी के अनेक पति।

वहुपत्नी प्रथा : एक पुरुष की अनेक पत्नियां।

ब्रह्म समाज : 19 वीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित हिंदू पंथ। ब्रह्म समाज मूर्तियों की नही, निराकार देवत्व की आराधना करता है। यह पंथ बंगाल में फला-फूला। इसी तरह का पंथ पश्चिम भारत का प्रार्थना समाज।

ब्राह्मण : वेदों का गद्यांश जिसमें कर्मकांडों और बलियो के विषय में बताया गया है; चार मुख्य वर्णो में सर्वोच्च; ज्ञान और पुरोहिती को समर्पित जाति।

महानगर : दस लाख तथा उससे अधिक जनसंख्या वाले नगर।
मातृवंशी परंपरा : जहां वंश परंपरा स्त्री से चलती है। देखें पितृवंशी परंपरा।
मातृस्थानिक आवास : जहां पति अपनी पत्नी की माता के घर मे रहता है।
म्लेच्छ : अपवित्र व्यक्ति; हिंदू इस शब्द का प्रयोग विदेशों से आये अहिंदुओं के लिए करते हैं।
योग : हिंदू दर्शन की छह प्रणालियों में से एक। मन पर नियंत्रण के लिए ध्यान केंद्रित करना।
लोकायत : भौतिकवादी दर्शन का उपदेश देने वाला एक विपथगामी पंथ।
वर्ण : हिंदू समाज के चार प्रमुख वर्ग; अवरोही क्रम में ये हैं : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र।
वेद : चार प्राचीन पवित्र हिंदू ग्रंथ-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद।
वेदान्त : हिंदू दर्शन की छह प्रणालियों में से एक।
वैष्णव धर्म : हिंदू धर्म की वह शाखा जो विष्णु को सर्वोच्च मानती है।
वैश्य : हिंदू समाज के चार प्रमुख वर्णो में से तीसरा।
व्रात्य : वे क्षेत्रीय परपराएं जिन्होंने आर्यीकरण का प्रतिरोध किया। ये अशंतः ही सफल हुई जिसके परिणामस्वरूप मिली-जुली संस्कृतियों का जन्म हुआ।
विस्तारित परिवार : जहां दो या अधिक मूल परिवार साथ रहते हैं।
शरीयत : इस्लामी कानून।
शाक्त : शक्ति के उपासक।
शेख : उच्च जन्म तथा प्रस्थिति वाले मुसलमान।
शूद्र : हिंदू समाज के चार मुख्य वर्णो में निम्नतम।
स्मार्त : वे जो शिव, विष्णु तथा मातृदेवी तीनों की आराधना करते हैं।

शिवम् ऑफसैट प्रेस, ए-12/1, नरायणा इंडस्ट्रियल एरिया, फेज-I, नई दिल्ली 110 028 द्वारा मुद्रित